दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९३ तंत्री-जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २३ अंक नं० ५

आत्मानुभव की चटपटी

जिसे शुद्धात्मा को समझने का उत्साह और तीव्र जिज्ञासा जागी है, ऐसे जिज्ञासु जीव को प्रश्न उत्पन्न होता है कि—'शुद्ध आत्मा का स्वरूप कैसा है?' जिसप्रकार बड़े रेगिस्तान में किसी को पानी की तृषा लगी हो, पानी पीने की अति उत्कंठा हो, शोध करते-करते पानी होने की निशानी मालूम होने पर वह कैसा आतुर हो जाता है? पश्चात् जल पीते समय कितना तृप्त हो जाता है, उसीप्रकार जिसे इस चार गति के भवरूपी रेगिस्तान में रुलते-भटकते निज आत्मा के स्वरूप जानने की उत्कंठा हुई है, उस जीव को निज शुद्धात्मा की बात सुनते ही आनंद होता है—उल्लास होता है, पश्चात् सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा आत्मस्वरूप को प्राप्त कर वह तृप्त होता है। शुद्धात्मा को जानने की जिन्हें तीव्र जिज्ञासा पैदा हुई है, ऐसे जीवों को यह बात सुनानी है।

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

आत्मा को समझने के लिये जिसे अंतरंग में वास्तव में अत्यंत आतुरता जागी है। उसे आत्मा को भीतर से समझने का मार्ग प्राप्त हुये बिना नहीं रहता, अपनी तीव्र रुचि के बल द्वारा अंतरंग में उपाय प्रगट करके वह आत्मस्वरूप को प्राप्त करता ही है। (समयसार गाथा ५ के प्रवचन में से)

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

सितम्बर १९६७] वार्षिक मूल्य ३) (२६९) एक अंक २५ पैसा [भाद्रपद सं० २०२४

विषय-सूची

१ सिद्ध प्रभु के साथ मित्रता

२ परमात्म तत्त्व की भावना का फल

३ कविवर पंडित बनारसीदासजी का परिचय

४ पुण्य धर्म है या कर्म

५ विविध वचनामृत

६ श्री भक्तामर स्तोत्र

७ अरे शर्मजनक देह अनादिकाल से क्यों धारण करते हैं ?

८ पूरण शुद्धात्म सत्कार

९ तत्त्व चर्चा

१० संसार समुद्र से पार होने की कला

११ आध्यात्मिक नवधा भक्ति का सुंदर वर्णन

१२ तीव्र गर्मी के समय अमृत की वृष्टि

१३ गाढ़ा पक्का भेदज्ञान

१४ निरंतर भजने योग्य भावना

१५ वचनामृत

१६ द्रव्य-गुण-पर्याय

१७ नौ कुमारिका बहनों द्वारा ब्रह्मचर्य दीक्षा

१८ समाचार संग्रह

आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक का शुद्धि पत्र

(जो अशुद्धि प्रेस के कारण रह गई है)

पृ०	ला०	अशुद्धि	शुद्धि
१००	१०	समवाय	संयोग
१०१	१७	वह उसकी जानी को नहीं जानता	(दो बार चाहिए)
१५५	११	मान	माया
१७३	अंतिम	जिनमत	अन्यमत
१८५	२२	गुरुओं	गुणों

(मात्री टूटी हुई सब पुस्तक में नहीं है।)

सूचना

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ में फोन लग गया है, जिसका फोन नं० ३४ है। कनैक्शन 'शिहोर' जिला भावनगर (सौराष्ट्र) से संबंधित है।

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

सितम्बर : १९६७ ☆ वर्ष २३वाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४९३ ☆ अंक : ५

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

सिद्ध प्रभु के साथ मित्रता

हे जीव! तुझे संसार से छूटना हो और सिद्धपद पाना हो तो सिद्ध प्रभु के साथ मैत्री कर... संसार के साथ अमित्रता कर और सिद्धों के साथ मित्रता कर। सिद्ध भगवान के साथ मित्रता कैसे हो? 'जैसे आप वैसा मैं' ऐसा सिद्ध-जैसे स्वयं के आत्मस्वभाव की पहिचान करने से आत्मा के साथ सिद्ध की मित्रता होती है, यानी वह सिद्धपद का साधक होता है। सिद्ध भगवंत कहते हैं कि यदि तुझे मेरे साथ मित्रता करनी है और मेरे पास सिद्धदशा में आना है तो तू राग की मैत्री छोड़; राग तो मेरा विरोधी है, उसका आदर करेगा तो मेरे साथ मित्रता नहीं होगी। मेरे साथ मित्रता करनी हो तो मेरे में जो नहीं है, ऐसे समस्त परभावों की प्रीति छोड़कर उनके साथ अमित्रता कर, अतः उनके साथ एकता का संबंध तोड़, और मेरे-जैसा जो तेरा स्वभाव है, उसमें संबंध जोड़... अरे जीव! संसार का प्रेम छोड़कर अब यह सिद्ध प्रभु के साथ मित्रता कर। धर्मात्मा कहता है कि हम अब सिद्ध प्रभु के मित्र हुये हैं; सिद्ध प्रभु जैसे अपने स्वभाव को अनुभव में लेकर हमने अब सिद्ध प्रभु के साथ मित्रता की है और समस्त परभावों के साथ की मित्रता छोड़ी है। अब परभावरूप संसार को छोड़कर हम अल्प काल में सिद्ध होंगे और सिद्धालय में जाकर अपने मित्रों के साथ सादि-अनंत काल रहेंगे।

परमात्मतत्त्व की भावना का फल

'परमात्मप्रकाश' अर्थात् शुद्ध परम आत्मतत्त्व की भावना का शांत झरना... जिसकी भावना परम आनंद प्रदान करती है... जिसकी भावना से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है... जिसकी भावना से सिद्धपद प्राप्त होता है... जिसका गणधरादि मुनिवर और धर्मात्मा परम आदरपूर्वक आराधन करते हैं... ऐसे परमात्मतत्त्व की भावना का फल बतलाकर शिष्यजनों को उसमें प्रोत्साहित करते हैं।

[आश्विन कृष्णा ६ के दिन 'परमात्मप्रकाश' की पूर्णता के अवसर पर भाववाही प्रवचन]

श्री योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश में शरीरादि से भिन्न परमात्मस्वरूप का वर्णन करके, बारंबार शुद्धात्मतत्त्व की भावना का घोलन किया। अब अंतिम गाथा में ऐसे परमात्मतत्त्व की भावना का उत्तम फल बतलाकर शिष्यजनों को उसका प्रोत्साहन देते हैं—

(स्रग्धरा)

जं बत्तं णाणरूवं परम मुणिगणा णिच्च झायंति चित्ते
जं तत्तं देहचत्तं णिवसइ भुवणो सव्व देहीण देहे।
जं तत्तं दिव्वदेहं तिहुवणगुरुगं सिज्झए संतजीवे॥
तं तत्तं जस्स सुद्धं फूरइ णियमणे पावए सोहि सिद्धिं॥२१३॥

अहो, अनंत आनंद का भंडार जिसमें भरा है—ऐसा यह चैतन्य परमतत्त्व, वह ध्यान द्वारा जिसके अंतर में स्फुरायमान होता है, वह जीव मोक्षरूप परमानंद को प्राप्त करता है। परम भावना करने योग्य यह तत्त्व कैसा है ? कि जो तत्त्वज्ञानरूप है, मुनिवरों का समूह जिसे सदा ध्याता है; गणधर, इंद्र, चक्रवर्ती आदि **धर्मात्मा आदर पूर्वक जिस तत्त्व की आराधना करते हैं; तथा जो तत्त्व शरीर से पृथक् हैं, लोक में समस्त शरीरियों के शरीर में जो तत्त्व निवास कर रहा है, प्रत्येक आत्मा शरीर से भिन्न ऐसे परम तत्त्वरूप हैं—तेरा ऐसा परम तत्त्व तुझमें ही विद्यमान है। जो तत्त्व शरीररूप जड़ शरीररहित होने पर भी केवल ज्ञानरूप दिव्य शरीरवाला है, केवलज्ञानादि ही उसका शरीर है, वही उसका स्वरूप है; वह तीन लोक में सबसे महान है; अनंत केवलज्ञान, अनंत सुख आदि से महानता के कारण तीन लोक में गुरु अर्थात् पूज्य है-महान है; ऐसा शुद्ध परमतत्त्व अंतर्दृष्टि द्वारा जिसकी निर्मल परिणति में स्फुरायमान होता है**

अर्थात् प्रगट अनुभव में आता है, वह जीव सिद्धि को प्राप्त करता है।

देखो, यह परमात्मतत्त्व की भावना का फल! अहा, जिसे ऐसे परमात्मतत्त्व का प्रेम जागृत हो, उसे उसकी भावना का कितना उत्साह होगा? भाई, इस शरीर से भिन्न परमतत्त्व तुझमें ही विद्यमान है; तेरे उस तत्त्व को शरीर के जड़ अवयवों की आधीनता नहीं है। तेरे तत्त्व में इन्द्रियाँ कभी नहीं हैं; अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंदरूप अवयवों से तेरा तत्त्व निमित्त है, वह सदा ज्ञान और आनंदस्वरूप है। उसे अपने स्वसंवेदन से ही आनंद का अनुभव होता है। दूसरे में आनंद नहीं है तथा दूसरे को जानने से भी आनंद का अनुभव नहीं होता; स्वयं आनंदस्वरूप है और अपने को जानने से आनंद का अनुभव होता है। हे जीव! ऐसे स्वतत्त्व की तू सदा भावना कर!

अरे, अनंत गुणों से परिपूर्ण परमतत्त्व तुझमें विद्यमान है, उसे तो तू देखता नहीं है और शरीरादि परद्रव्य जो तुझमें अविद्यमान है, उसी को तू देखता है! अरे भाई! हमने तुझे शरीरादि से बिल्कुल भिन्न परमात्मा समान तेरा तत्त्व बतलाया; पुनः पुनः अनेक प्रकार से उसका मंथन कराया। उस परमात्मतत्त्व की तू भावना कर; उसकी रागरहित रुचि, उसका ज्ञान एवं पुनः पुनः भावना द्वारा उसमें लीनता कर-जिससे परम सुख के अनुभवरूप सिद्धदशा को तू प्राप्त करेगा।

शरीर का तुझमें अस्तित्व ही नहीं है, तो उसकी भावना कैसी? जो परवस्तु अपने से सदा भिन्न है, जिसकी अपने में नास्ति है और जिसमें कभी सुख नहीं है, उसकी भावना कैसी? स्वतत्त्व जो सुखरूप है, वही बारम्बार नित्य भाने योग्य है। तू उत्साहित होकर उसे अंतर में भा... पुनः पुनः उसमें उपयोग को लगा। अरे, जो शरीर तेरा नहीं है, जिसका तुझमें कभी अस्तित्व नहीं है; उससे तुझे धर्म हो—यह बात कैसी? यह तो अत्यंत विपरीत स्थूल बुद्धि है। जिसकी तुझमें नास्ति है, उसमें से तेरा धर्म कैसे आयेगा? तेरे आत्मतत्त्व में केवलज्ञानादि स्वभाव है, उस स्वभाव में से धर्म का प्रवाह आता है। तेरा शरीर (तेरा स्वरूप) तो केवलज्ञान है, उसे भूलकर तू जड़ शरीर में मोहित हुआ और उसमें से धर्म माना... यह तो भ्रमणा है और वह भ्रमण का कारण है। उस भ्रमणा को छोड़... और हमने शरीर से भिन्न जो परमात्म तत्त्व बारम्बार बतलाया, उसे पहिचानकर उसकी भावना कर। वह भावना भ्रमण मिटाकर सिद्धपद देने में कारणभूत है।

अहा, जिसकी भावना का ऐसा श्रेष्ठ फल, उस तत्त्व की भावना कौन नहीं भायेगा? सर्व

जीवों को सदाकाल सर्व प्रकार से शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करने योग्य है। यही सर्व शास्त्रों का तात्पर्य है।

केवलज्ञान को प्राप्त भगवान की जय हो!—ऐसे मंगल आशीर्वादरूप नमस्कार पूर्वक शास्त्र समाप्त करते हैं:—

(मालिनी)

परमपयगयाणं भासओ दिव्वकाओ
मणसि मुणिवराणं मुक्खदो दिव्वजोओ।
विसयसुहरयाणं दुल्लहो जो हु लोए
जयउ सिवसरूवो केवलो को वि बोहो॥२१४॥

संत स्वयं ऐसे परमात्मपद की साधना कर रहे हैं, उसकी उत्कृष्ट भक्ति से कहते हैं कि अहो! ऐसा परमात्मपद जिन्होंने प्रगट किया, ऐसे परमात्मा जयवंत वर्ते... वृद्धिंगत हों.. अर्थात् हमें भी साधकभाव की वृद्धि होकर ऐसा परमात्मपद प्रगट हो।

भगवान का आत्मा तो स्वच्छ स्व-पर प्रकाशी हो गया और उनका शरीर भी परम औदारिक ऐसा स्वच्छ दिव्य होग या कि जिसमें रोगादि नहीं होते; हजारों सूर्य समान तेजस्वी उस शरीर में देखनेवाले को अपने अगले-पिछले सात भव दिखायी देते हैं। (भविष्य के भव भी दिखायी देते हैं।) संत धर्मात्मा और मुनिवर अंतर में अपने ऐसे परमात्मस्वरूप को ध्यान द्वारा देखते हैं। परमौदारिक देह से भी आत्मा भिन्न है। ऐसा परमचैतन्यतत्त्व मोक्ष को देनेवाला है। निमित्तरूप से अरिहंत परमात्मा भी मोक्ष को देनेवाले हैं। मात्र ज्ञानस्वभावी उस अतीन्द्रिय परमात्मपद को इन्द्रिय विषयों में लुब्ध जीव प्राप्त नहीं कर सकते। इन्द्रिय सुख तो अतीन्द्रिय सुख से विपरीत है, उन दोनों की रुचि एक साथ नहीं हो सकती। जगत के जीव विषयों में लुब्ध हैं, उन्हें इस परमात्मतत्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है। अंतर में ध्यान द्वारा जो ऐसे परमात्मपद को प्राप्त हुए उन परमात्मा की जय हो।

परमात्मतत्त्व तो अंतर्मुख अवलोकन का विषय है, बाह्य विषयों की ओर की वृत्ति से वह अनुभव में नहीं आता। श्रीमद् राजचंद्रजी भी अन्त में कहते हैं कि—

'उपजै मोह विकल्प से समस्त यह संसार,
अंतर्मुख अवलोकिये विलय होत नहिं वार।'

बहिर्मुख अवलोकनरूप मोह से यह संसार है, वह अंतर्मुख अवलोकन द्वारा क्षणभर में

विलय को प्राप्त होात है। परमात्मतत्त्व का अनुभव अंतरंग अवलोकन से होता है। ऐसे अंतर अनुभव द्वारा जो परमात्मा हुए-परम आनंदरूप हुए, उन भगवान परमात्मा की जय हो... वे सदा वृद्धिरूप हों... उन्हें नमस्कार हो।

—इसप्रकार मंगलपूर्वक परमात्म प्रकाश ग्रंथ पूर्ण हुआ।

* * *

—इस परमात्मप्रकाश-ग्रंथ की टीका का व्याख्यान सुनकर भव्य जीवों को कैसी भावना करनी चाहिये वह कहते हैं:—

परमात्म-भावना

परमात्मप्रकाश का व्याख्यान सुनकर भव्य जीवों को क्या करना चाहिये ? तो कहते हैं कि शुद्ध आत्मा की भावना करनी चाहिये... मति-श्रुत को अंतरोन्मुख करके शुद्धात्मा का विचार करना चाहिये... उसका निरंतर चिंतन करना चाहिये। वह इसप्रकार है:—

'सहजशुद्ध ज्ञानानंद एकस्वभावोहं'—मैं सहजशुद्ध ज्ञानानंद एकस्वभाव हूँ। ज्ञान और आनंद ही मेरा स्वभाव है। ऐसा मेरा स्वभाव सहज है-किसी दूसरे की अपेक्षा बिना स्वतः अपने अपने से है। ऐसा सहज स्वभाव त्रिकाल है और उसकी भावना वह नवीन अपूर्व अंतर्मुख पर्याय है। इसप्रकार पर्याय को अंतरोन्मुख करके सहज स्वभाव का मंथन करना चाहिये। स्वसंवेदन से अपने आत्मा का ऐसा सहज ज्ञानानंदस्वरूप समझने से जगत के समस्त जीव भी परमार्थतः ऐसे ही हैं—ऐसा समझ में आता है।

'निर्विकल्पोहं'—निर्विकल्प हूँ। बीच में विकल्प आये, वह मैं नहीं हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ। ऐसे स्वरूप की भावना करना, सो कर्तव्य है। पहले ज्ञान-आनंद की अस्ति कही और फिर उसमें विकल्प की नास्ति बतलायी। शुद्ध ज्ञानानंदस्वभाव की अस्ति की ओर जो पर्याय ढली, उसमें विकल्प की नास्ति है।

'उदासीनोहं'—मैं उदासीन हूँ। जगत से निरपेक्ष, जगत से भिन्न में अपने स्वभाव में वर्ता हूँ। उत्कृष्ट ऐसा मेरा चैतन्यस्वरूप ही मेरा आसन है, उसी में मेरा निवास है। जो पर को साधन माने या पर में सुख माने, वह पर से उदासीन नहीं होता। स्वभावको अपने से परिपूर्ण जानकर उस ओर उन्मुख हुआ, वहाँ जगत के समस्त अन्य पदार्थों के प्रति सच्ची उदासीनता हुई।

सहज शुद्ध ज्ञानानंदस्वभाव तो त्रिकाल है, परंतु उसकी प्राप्ति और अनुभव कैसे हो? वह बतलाते हैं—

'निजनिरंजन शुद्धात्मसम्यक् श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिसंजात वीतरागसहजानंदरूप सुखानुभूतिमात्र लक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्यो प्राप्योऽहं...' निजनिरंजन शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि में उत्पन्न ऐसे वीतराग सहजानंदरूप सुखानुभूतिमात्र लक्षण से अर्थात् स्वसंवेदनज्ञान से स्वसंवेद्यगम्य को प्राप्त होऊँ—ऐसा मैं हूँ। देखो, स्वरूप कैसा है और उसकी प्राप्ति कैसे हो—अनुभव कैसे हो—यह दोनों बातें एक साथ बतलाते हैं। निश्चयरत्नत्रय द्वारा मेरी प्राप्ति होती है; रागरूप या विकल्परूप व्यवहाररत्नत्रय द्वारा मेरी प्राप्ति नहीं होती; स्व-संवेदनज्ञान से ही अनुभव में आऊँ, ऐसा मैं हूँ; स्वसंवेदनज्ञान रागरहित वीतराग सहज आनंद के अनुभवरूप है। ऐसे अनुभव के बिना अन्य उपाय से शुद्धात्मा की प्राप्ति या सम्यक्त्वादि नहीं होते। षट्खंडागम आदि में जिनबिम्बदर्शन आदि को सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्यकारण में गिना है, परंतु वह तो निमित्त बतलाया है; वहाँ भी ऐसी अंतर की अनुभूति बिना तो जिनबिम्बदर्शनादि सम्यक्त्व के बाह्यकारण भी नहीं होते। आत्मा का ज्ञान और आत्मा की अनुभूति परम आनंदरूप है, वह रागरूप नहीं है अथवा राग द्वारा नहीं होती; स्व-संवेदनरूप स्वानुभूति से ही आत्मस्वभाव अनुभव में आता है। इसके सिवा अन्य किसी की उसमें अपेक्षा नहीं है। निज अर्थात् अपने आत्मा की ऐसी अनुभूति कैसे हो, उसकी यह भावना है। दूसरे की ओर देखने का प्रयोजन नहीं है। स्वानुभूति से ही आत्मा ज्ञात होता है-वेदन में आता है-प्राप्त होता है, अन्य उपाय से आत्मा का ज्ञान नहीं होता, वेदन नहीं होता और प्राप्ति नहीं होती। अनुभूतिरूप अपने निर्मल पर्याय द्वारा ही मैं अपने वेदन में आता हूँ, अपनी पर्याय द्वारा ही मैं अपने को ज्ञात होता हूँ; आत्मोन्मुख निर्मल पर्याय में ही आत्मा की प्राप्ति होती है। परोन्मुख पर्याय में आत्मा की प्राप्ति या अनुभूति नहीं होती। ऐसा निजस्वरूप का विचार करके बारम्बार उसकी भावना करनी चाहिये।

'भरितावस्थोहं'—अर्थात् मैं अपने स्वभाव से परिपूर्ण हूँ, अपने निजभाव से भरा हुआ हूँ। जगत के सर्व जीव अपने-अपने स्वभाव से भरपूर हैं। इसप्रकार स्वभाव से परिपूर्णतारूप अस्ति बतलाकर अब परभाव से शून्यतारूप नास्ति बतलाते हैं:—

'रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभ-पंचेन्द्रियविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-ख्यातिपूजालाभ-दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूप निदानमाया-मिथ्यात्वशल्यत्रय-आदि सर्वविभाव परिणाम रहित शून्योऽहं'—अर्थात् मैं राग-द्वेष-मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ से रहित, पाँच इन्द्रियों के विषय व्यापार से रहित, मन-वचन-काया के व्यापार से रहित, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से रहित, ख्याति-पूजा-लाभ की अथवा दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोग की आकांक्षारूप निदानशल्य-मायाशल्य तथा मिथ्यात्वशल्य—इन तीनों शल्य से रहित इत्यादि सर्व विभाव परिणाम रहित होने से शून्य हूँ।

मेरा स्वरूप समस्त विभाव परिणामों से रहित है; मैं स्वभाव से परिपूर्ण एवं विभाव से शून्य अर्थात् रहित हूँ। ऐसे स्वभाव की भावना के सिवा अन्य किसी की भावना मुझे नहीं है, इसलिये मैं समस्त विषयों की अभिलाषा से रहित हूँ। स्वानुभूतिगम्य मेरे शुद्धस्वरूप में परभाव है ही नहीं। मेरा और जगत के समस्त जीवों का ऐसा ही शुद्धस्वरूप है। ऐसी भावना निरंतर करना चाहिये।

यहाँ भावना अर्थात् मात्र विचार या विकल्प की बात नहीं है, परंतु ज्ञान को बारम्बार स्वभावोन्मुख करने का नाम भावना है 'मैं ऐसा हूँ और ऐसा नहीं हूँ'—इसप्रकार मात्र विकल्प की बात नहीं है परंतु अंतर में स्वभाव के ओर की वैसी रुचि तथा परिणति हो, वह सच्ची भावना है। भावना के अनुसार भवन अर्थात् शुद्धस्वभाव की रुचि का बारम्बार मंथन करने से वैसा शुद्ध परिणमन होता है और परमात्मदशा खिलती है, वह भावना का फल है। अहा! ऐसी परमात्मभावना ही परम सुखदातार है, वह आनंदरूप है, उसमें परम समाधि एवं शांति है, उसमें आकुलता नहीं है, क्लेश नहीं है। ऐसी आनंददायी परमात्मभावना कौन नहीं भावेगा!

सम्यग्दर्शन भी ऐसी आत्मभावना से ही होता है।
सम्यग्ज्ञान भी ऐसी आत्मभावना से ही होता है।
सम्यक्चारित्र भी ऐसी आत्मभावना से ही होता है।
वीतरागता भी ऐसी आत्मभावना से ही होती है।
केवलज्ञान भी ऐसी आत्मभावना से ही होता है।
मोक्षदशा भी ऐसी आत्मभावना से ही होती है।
—ऐसी शुद्ध आत्मभावना, वह धर्म है।

ऐसी शुद्ध आत्मभावना में परम आनंद है।

ऐसे शुद्ध स्वभाव की भावना के अतिरिक्त अन्य किसी (राग की या संयोग की) भावना से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वीतरागता-केवलज्ञान या मोक्ष नहीं होता, धर्म नहीं होता, आनंद नहीं होता। इसलिये मुमुक्षु को यह भावना निरंतर करने योग्य है। सर्वज्ञदेव के शासन का सार, दिव्यध्वनि का तात्पर्य तथा बारह अंग के रहस्य का निचोड़ इस शुद्धात्मभावना में समा जाता है। इसलिये कहते हैं कि—

'जगन्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन तथा सर्वेऽपि जीवाः इति निरन्तरं भावना कर्त्तव्येति।'

तीन लोक और तीन काल में, मैं ऐसा (स्वभाव से परिपूर्ण एवं सर्व विभाव से रहित) हूँ तथा सर्व जीव भी ऐसे हैं; इसप्रकार मन-वचन-काया से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से निरंतर भावना कर्तव्य है।

देखो, यह भावना! तीनों काल और तीनों लोक में ऐसी भावना करने योग्य है। चाहे जिस क्षेत्र में या चाहे जिस काल में मेरा आत्मा शुद्ध स्वरूप ही है—ऐसी भावना करनेयोग्य है। मन से-वचन से-काया से यही भावना करनेयोग्य है, यही भावना करानेयोग्य है और यही भावना अनुमोदन करनेयोग्य है।

प्रश्न—पहले तो मन-वचन-काय के व्यापार से मैं पृथक् हूँ—ऐसा कहा था, और यहाँ मन-वचन-काया द्वारा भावना करने को क्यों कहा?

उत्तर—यहाँ विकल्प उठे और मन-वचन-काया की ओर लक्ष जाये तो उसमें भी शुद्धात्मा की भावना की ही मुख्यता रखना चाहिये, ऐसा बतलाया है। मन में विचार उठे तो उस शुद्धात्मा की भावना के ही पोषक, वचन निकलें तो वे भी शुद्धात्मा की भावना के ही प्रतिपादक, और काया की चेष्टा हो तो वह भी शुद्धात्मा की भावना के ही अनुरूप—इसप्रकार मन-वचन-काया से भी शुद्धात्मा की ही भावना करनी चाहिये। इसमें मन-वचन-काया की भावना नहीं है परन्तु उससे भिन्न स्वभाव की भावना है।

तीनों काल आत्मस्वभाव ऐसा शुद्ध है, ऐसी भावना करनी चाहिये। भूतकाल में भी मैं ऐसा नित्यतत्त्व में शुद्ध ही था परंतु उस समय मैं अपने स्वभाव को भूला था; अब भान होने पर खबर पड़ी कि पहले अज्ञानदशा के समय भी मेरा नित्य स्वभाव तो ऐसा शुद्ध था।—इसप्रकार

त्रिकाल शुद्धस्वभाव की भावना करनी चाहिये।

प्रश्न—वर्तमान में तो पर्याय में दोष है, तो त्रिकाल शुद्धता की भावना कैसे होगी ?

उत्तर—वर्तमान पर्याय में अल्प दोष है, परंतु भाई! उसीसमय पर्वत जितना निर्दोष स्वभाव विद्यमान है, उसे प्रधान कर और उसकी महिमा लाकर उसकी भावना कर; उस स्वभाव की भावना द्वारा पर्याय का दोष दूर हो जायेगा और शुद्धता खिल जायेगी। पर्याय के किंचित् दोष की ओट में निर्दोष स्वभाव को भूला; इसलिये तू भव में भटका है, परन्तु पर्याय के दोष को मुख्य न करके उस दोष से भिन्न शुद्धस्वभाव को देख और उसी की भावना कर, तो पर्याय में भी उसका स्वसंवेदन होगा और दोष नहीं रहेगा।

मेरा आत्मा और जगत के सर्व आत्मा भी ऐसे शुद्धस्वभाव से परिपूर्ण हैं। दूसरे आत्मा को भी क्षणिक दोष जितना न देखकर उसे शुद्ध स्वभाव के पिंडरूप देखो। समस्त आत्माओं को शुद्धस्वभावरूप से देखना, उसमें अपनी शुद्धात्म-भावना का जोर है। समस्त आत्माओं को द्रव्यदृष्टि से शुद्धरूप देखे, वहाँ किसके ऊपर राग-द्वेष होगा ? कहीं नहीं होगा। इसलिये इस भावना में परिणति राग-द्वेष से छूटकर अंतरस्वभावोन्मुख होती है और वीतरागता होती है।

विकार, सो मैं; अल्पज्ञ, सो मैं; क्रोधी मैं, रोगी मैं, दु:खी मैं—ऐसी भावना नहीं करनी चाहिये; मैं तो निर्दोष शुद्ध परमस्वभावी आत्मा, मैं सर्वज्ञता का पुंज, मैं क्रोधादिरहित शांत, मैं शरीररहित, मैं परम आनंदमय—इसप्रकार उत्तम स्वभाव की भावना निरंतर भाना चाहिये। समयसार में श्री जयसेनाचार्य की टीका में भी शास्त्र के तात्पर्यरूप में ऐसी भावना करने को कहा है; यही भव्य जीवों का निरंतर कर्तव्य है और यह मंगलरूप है।

ऐसा दुर्लभ अवसर पा करके भी हे जीव! यदि तूने तेरे स्वज्ञेय को न जाना और स्वाश्रय से मोक्षमार्ग को न साधा तो तेरा जीवन व्यर्थ है। यह अवसर चला जायेगा, तब तू पछतायेगा। इसलिये जाग और स्वहित में तत्पर बन!

कविवर पंडित बनारसीदासजी का परिचय

परम वीतराग जैनधर्म के अनादिनिधन प्रवाह में तीर्थंकरों और संतों ने आत्महित के कारणभूत अध्यात्मवाणी का प्रवाह बहाया है। तीर्थंकरों और संतों का वह अध्यात्मसंदेश झेलकर अनेक जीव पावन हुये हैं। गृहस्थ-धर्मात्माओं ने भी उस अध्यात्म-गगा के पुनीत प्रवाह को अपनी अध्यात्म रसिकता द्वारा जारी रखा है। उस अध्यात्मरस के पान से संसार के संतप्त जीव परम तृप्ति का अनुभव करते हैं।

तीर्थंकरों और मुनियों की तो बात ही क्या? उनका तो जीवन स्वानुभव द्वारा अध्यात्मरस से ओतप्रोत था ही। इसके अतिरिक्त जैन शासन में अनेक धर्मात्मा श्रावक भी ऐसे हुए हैं कि जिनका अध्यात्म जीवन और अध्यात्मवाणी अनेक जिज्ञासुओं को अध्यात्म की प्रेरणा उत्पन्न करती है। ऐसे एक आध्यात्मिक विद्वान पंडित श्री टोडरमलजी का और उनकी लिखी हुयी 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' का परिचय आत्मधर्म के गतांक में अपन ने दिया था। ऐसे ही एक दूसरे आध्यात्मिक विद्वान् पंडित श्री बनारसीदासजी का संक्षिप्त परिचय आज यहाँ देते हैं।

श्रीमान् पंडित बनारसीदासजी ने स्वयं ही 'अर्ध कथानक' में अनेक जीवन-वृत्तांत का आलेखन किया है; हिन्दी भाषा के कवियों में 'आत्मकथा' लिखनेवाले वे पहिले ही गिने जाते हैं। उनकी आत्मकथा में से ही उनके जीवन का संक्षिप्त परिचय यहाँ देते हैं। प्रतिकूल जीवन में से भी अध्यात्मरस के प्रताप से कैसा उज्ज्वल जीवन बन सकता है, इसकी आपको इसमें से प्रेरणा मिलती है।

मध्य भारत में रोहतकपुर के पास बिहोली ग्राम है, वहाँ राजपूतों की बस्ती है। एकबार बिहोली में कोई जैनमुनि पधारे। उनके पवित्र चरित्र से और विद्वत्ता भरे हुये उपदेश से प्रभावित होकर वहाँ के सभी राजपूत जैनधर्मी हो गये, और

पहिरी माला मंत्र की, पायो कुल श्रीमाल।
थाप्यो गोत बिहोलिया, बीहोली रखपाल॥

इसप्रकार नमस्कार मंत्र की माला पहिन कर बिहोलिया गोत्र की जो स्थापना हुयी उसमें अनुक्रम से मूलदासजी हुये, वे राज्य के मोदी थे। सं० १६०२ में उनके यहाँ खरगसेन का जन्म हुआ। वह ११ वर्ष के थे, तब (सं० १९१३ में) उनके पिता का देहांत हो गया।

मुगलसरदार ने उनका घर अपने अधिकार में कर लिया; इससे विधवा माता अपने पुत्र को लेकर जौनपुर चली गई। वहाँ उनका पीहर था। सं० १६२६ में खरगसेन आगरा आकर व्यापार करने लगे और उनके पास अच्छा धन एकत्रित हुआ; फिर वे जौनपुर आये। मेरठ नगर के सूरदासजी की कन्या के साथ उनका विवाह हुआ। ये ही अपने चरित्रनायक के माता-पिता थे। सं० १९३५ में उनके पुत्र हुआ, लेकिन वह मात्र आठ दस दिन ही जा सका। थोड़े दिनों बाद खरगसेन पुत्र लाभ की इच्छा से रोहतकपुर एक सती की यात्रा करने सहकुटुम्ब चले, लेकिन रास्ते में चोरों ने उनको लूट लिया। इस प्रसंग में बनारसीदासजी लिखते हैं कि सती के पास पुत्र मांगने जाते समय रास्ते में उल्टे लुट गये; ऐसा प्रत्यक्ष देखने पर भी मूर्ख लोग समझते नहीं और व्यर्थ ही देव-देवी की मान्यता (मनौती) करते हैं। खरगसेनजी पुनः वापिस सं० १६४३ में पुत्र लाभ की इच्छा से सती की यात्रा करने गये। वहाँ से आये बाद थोड़ समय में उनके पुत्र हुआ उसका नाम रखा विक्रम। यह 'विक्रम' ही अपने पंडित बनारसीदासजी थे। वि० सं० १६४३ के माघशुक्ल ग्यारस और रविवार को उनका जन्म हुआ।

बालक विक्रम जब छह महीना का हुआ, तब खरगसेनजी सकुटुम्ब पार्श्वनाथ प्रभु की यात्रा को काशी गये। भावपूर्वक पूजन करके प्रभु के चरणों में नमस्कार कराया; तब वहाँ के पुजारी ने कपट से कहा कि पार्श्वनाथ प्रभु का भक्त यक्ष मुझको ध्यान में आकर कह गया है कि पार्श्वप्रभु की इस जन्मनगरी का जो नाम है (बनारस) वही नाम इस बालक का रखना, उससे वह चिरंजीवी होगा। इसके ऊपर से कुटुम्बीजनों ने बालक का नाम 'बनारसीदास' रखा। पाँचवें वर्ष उसको संग्रहणी का रोग हुआ। जैसे-तैसे वह रोग शांत हुआ, तो शीतला ने घेर लिया। इसप्रकार एक वर्ष तक बालक ने अतीव कष्ट भोगा। सात वर्ष की अवस्था में शाला में पंडित रूपचंदजी के पास विद्याभ्यास शुरु किया। दो-तीन वर्ष में कुशल हो गये।

लगभग चार सौ वर्ष पहिले के जिस समय का यह इतिहास है, उस समय देश में मुसलमानों का राज्य था और बाल विवाह का विशेष प्रचार था। ९ वर्ष की अवस्था में खेरावाद के कल्याणमलजी शेठ की कन्या के साथ बालक बनारसी की सगाई हुयी और ११ वर्ष की अवस्था में (सं० १६५४ के माघ शुक्ला १२ को) विवाह हो गया। जिस दिन नवीन वधु घर में आई, उसी दिन खरगसेन के यहाँ एक पुत्री का जन्म हुआ और उसी दिन वृद्धा नानी का मरण हुआ। एक ही दिन एक ही घर में तीन प्रसंग बन गये। पंडितजी लिखते हैं:—

यह संसार विडम्बना, देख प्रगट दुख वेद।
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ न जाने भेद॥

सोलह वर्ष की युवावस्था में उनको कोढ़ का रोग हुआ और शरीर ग्लानिजनक बन गया। वह रोग मुश्किल से मिटा। युवावस्था में दुराचार के संस्कार से हजार चौपाई-दोहा की एक शृंगार-पोषक पोथी उनने बनायी, लेकिन पीछे से सद्बुद्धि आने वह पोथी पश्चाताप पूर्वक गोमती नदी में उन्होंने फेंक दी। सं० १६६० में उनको फिर से बड़ी बीमारी हुयी, २१ लंघन बाद वे निरोग हुये।

सं० १६६१ में (१८ वर्ष की अवस्थ में) एक संन्यासी बाबा ने बनारसीदासजी को जाल में फँसाया। एक मंत्र देकर एक वर्ष तक उसके जाप करने से प्रतिदिन एक स्वर्णमुद्रा आंगन में पड़ी दिखेगी-ऐसा कहा। बनारसीदासजी उसके जाल में फँसे और जाप जपना शुरु कर दिया। जैसे-तैसे वर्ष पूरा किया और स्वर्ण मुद्रा की उत्कंठा से आंगन में तपास करने लगे, लेकिन कुछ मिला नहीं। संन्यासी के इस कपट से इनकी आँख खुली।

लेकिन फिर दुबारा एक-दूसरे जोगी ने उनको फँसाया। एक 'शंख' देकर कहा कि यह 'सदाशिव' है, उसकी पूजा से महा पापी भी शीघ्र मोक्ष पाता है-बनारसीदासजी मूर्खता से उस शंख की पूजा करने लगे। इस मूर्खता के संबंध में वे लिखते हैं कि—

शंखरूप शिव देव, महा शंख बनारसी।
दोऊ मिले अबेब, साहिब सेवक एक से॥

सं० १६६१ में हीरानंदजी ओसवाल ने शिखरजी की यात्रा का संघ निकाला, खरगसेनजी भी उसके साथ यात्रा करने चले। उस समय रेलवे वगैरह नहीं थी, इससे यात्रा में एकाध वर्ष निकल जाता था। संघ बहुत दिन यात्रा करके वापिस आया, तक अनेक लोग लुट गये, अनेक बीमार हो गये और अनेक मर गये। खरगसेनजी भी रोग से पीड़ित हुये और मुश्किल से जौनपुर घर पहुँचे।

खरगसेनजी शिखरजी की यात्रा को गये, इसी बीच बनारसीदासजी को पार्श्वनाथजी की (बनारस की) यात्रा का विचार हुआ और प्रतिज्ञा की कि जबतक यात्रा न करूँ, तब तक दूध-दही-घी-चावल-चना-तैल वगैरह पदार्थ का सेवन नहीं करूँ। इस प्रतिज्ञा को छह महीना बीत गये, बाद कार्तिकी पूर्णिमा को बहुत से लोग गंगास्नान के लिये तथा जैनी लोग

पार्श्वनाथ प्रभु की यात्रा के लिये बनारस की ओर चले। उनके साथ बनारसीदासजी भी किसी को पूछे बिना बनारस चले गये। वहाँ गंगास्नान पूर्वक भगवान पार्श्वनाथ की भाव सहित दस दिन पूजा की, और साथ में वहाँ शंख पूजा भी करते थे। यात्रा करके, शंख साथ लेकर हर्ष पूर्वक वे घर आये।

एक बार वे घर की सीढ़ी पर बैठे थे, वहाँ खबर सुनी कि अकबर बादशाह की मृत्यु हुयी। वह सुनते ही आघात से सीढ़ी पर से नीचे गिर गये, और माथा फूट गया, कपड़े रक्त रंजित हो गये। इस प्रसंग के बाद एकांत में बैठे-बैठे उनको विचार आया कि—

जब मैं गिर्यो पड्यो मुरझाय,
तब 'शिव' कुछु नहिं करी सहाय।

इस बात का समाधान न होने से उनने शंखरूप 'सदाशिव' का पूजन छोड़ दिया। उनके विचारों में परिवर्तन हुआ और विवेक ज्योति जगी। अब शृंगाररस के प्रति अरुचि होने लगी और पश्चातापपूर्वक पाप के भय से शृंगाररस की पोथी को गोमती नदी में पधरा दी। उनकी परिणति में परिवर्तन हुआ और उनको धर्म की चाह (इच्छा) प्रगट हुई। पहिले संताप रूपी रस के रसिया बनारसी अब जिनेन्द्र के शांतरस में मग्न रहने लगे; पहिले गली कूंचे में भटकनेवाले बनारसी अब अष्ट द्रव्य सहित जिनमंदिर में जाने लगे। जिनदर्शन बिना भोजन त्याग की उनको प्रतिज्ञा थी। इसके अतिरिक्त व्रत-नियम सामायिकादि आचरण भी वे करने लगे।

सं० १६६७ में (२४ वर्ष की आयु में) पिताजी ने घर का कारोबार बनारसी को सौंप दिया; और दो मुद्रिका, २४ माणिक, ३४ मणि, नौ नीलम, बीस पन्ना, कितना ही फुटकर जवाहिरात तथा ४० मन घी, दो कुप्पा तैल, दो सौ रुपये के कपड़े और कितनी ही नगदी रकम देकर व्यापार के लिये आगरा भेजा। आगरा के मोती कटरा में अपने बहनोई के यहाँ उतरे और व्यापार शुरु किया। घी, तैल, कपड़ा बेचकर उसकी हुंडी जौनपुर भेज दी। उस समय आगरे में अच्छे-अच्छे लोग ठगाये जाते, लेकिन सद्भाग्य से बनारसीदासजी पर किसी की दृष्टि नहीं गयी। तो भी अशुभकर्म के उदय ने उनको नहीं छोड़ा। बांधा हुआ जवाहिरात कहीं गुम हो गया, जिस कपड़े में माणिक बांधे थे, वह पोटली चूहे ले गये, दो रत्नजड़िता पोंची (हाथ में बाँधने का गहना) जिस सराफ को बेची थी, उसने दूसरे ही दिन दिवाला निकाल दिया और रत्नजड़ित मुद्रिका रास्ते में गिर गयी। इसप्रकार ऊपरी आपत्ति से बनारसी का हृदय क्षुब्ध हो गया। पास में

जो कुछ वस्तु बची वह बेंच-बेंचकर खाने लगे। अंत में पास कुछ रहा नहीं, तब बाजार में जाना छोड़ दिया और घर में ही रहकर पुस्तक पढ़ने लगे। चार-पाँच श्रोता लोग उनके पास शास्त्र सुनने आते थे। उनमें एक कचौड़ीवाला था, उसके पास से प्रतिदिन कचौड़ी उधार लेकर बनारसीदासजी खाते थे। बहुत दिनों बाद उसको एकांत में कहा कि भाई, तुम उधार कचौड़ी देते हो, लेकिन मेरे पास तो कुछ नहीं है कि आपको दूँ, इसलिये अब आगे से उधार देना बंद करो। लेकिन कचौड़ीवाले भाई भले आदमी थे और बनारसीदासजी की परिस्थिति को जानते थे। उनने कहा कि आप पैसे की परवाह न करें, चिन्ता की कोई बात नहीं, आप उधार लिया करें, समय आते सब चुक जायेगा। इसप्रकार छह महीने निकल गये। एकबार शास्त्र सुनने ताराचंदजी नाम के एक गृहस्थ आये। वे बनारसीदासजी के ससुर होते थे। वे बनारसीदासजी को अपने यहाँ ले गये। दो महीने बाद फिर से उनने व्यापार शुरु किया, और कुछ धन कमाया। उसमें से कचौड़ीवाले का हिसाब चुकता करके चुका दिया; कुल १४ रुपये हुये थे। आगरा जैसे शहर में दो समय पूड़ी-कचौड़ी का सात महीने का खर्च मात्र १४ रुपया आया, ऐसा उस समय सस्ता भाव था। इस प्रसंग में कचौड़ीवाले भाई ने अपने एक साधर्मी के प्रति संकट के समय जिस उदार भावना से वात्सल्य बतलाया, वह इस जमाने में विशेष अनुकरणीय है।

आज के जैन समाज को ऐसे वात्सल्यवंत भाईयों की विशेष आवश्यकता है। बनारसीदासजी को व्यापार में दो वर्ष में २०० रुपये की कमायी हुयी और इतना ही खर्च हुआ। व्यापार के अनेक प्रयत्न किये पर सफलता नहीं मिली। अलीगढ़ की यात्रा को गये, वहाँ प्रबल तृष्णावश प्रभु के पास लक्ष्मी की प्रार्थना की।

इस बीच उनकी पत्नी को तीसरा पुत्र हुआ, लेकिन मात्र पंद्रह दिन जीकर वह मर गया और उसकी माता को भी ले गया। अपनी साली के साथ फिर विवाह किया; सं० १६७३ में उनके पिता का स्वर्गवास हुआ। उसके बाद वे आगरा गये। आगरा में प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ। लोग भयभीत होकर जंगल में रहने लगे। सं० १६७७ से ७९ में माता, भार्या, तथा पुत्र-तीनों का स्वर्गवास हो गया। सं० १६८० में (३७वें वर्ष में) तीसरी बार विवाह किया।

आगरे में अर्थमल्लजी नाम के अध्यात्म रसिक सज्जन थे, वे बनारसीदासजी की काव्य शक्ति देखकर आनंदित हुये। लेकिन उसमें आध्यात्मिक रस का अभाव देखकर दु:ख भी हुआ। उनने एक बार अवसर पाकर पंडित राजमल्लजी रचित 'समयसार-कलश टीका' देकर उसकी

स्वाध्याय करने को कहा; परंतु गुरु के बगैर उनको अध्यात्म मार्ग की सूझ नहीं हुयी। उनको और उनके मित्रों को आत्मस्वाद तो आया नहीं और क्रियाओं का रस मिट गया। इससे एकबार तो नग्न होकर कोठरी में फिरने लगे और कहते कि 'हम मुनि हुये।' इतने में पंडित रूपचंदजी आगरे में आये और एकांतग्रसित बनारसीदासजी को गोम्मटसार के अभ्यास द्वारा गुणस्थान अनुसार ज्ञान-क्रियाओं का विधान समझाया। उसे समझते ही उनकी आँखें खुल गयीं।

तब बनारसि और हि भयो, स्याद वाद परिणति परिणयो;
सुनि सुनि रूपचंद के वैन, बानारसी भयो दिढ जैन।
हिरदे में कछु कालिमा, हुती सरदहन बीच,
सोऊ मिटि समता भई, रही न ऊंच न नीच।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव-रचित समयसार की जो टीका अमृतचन्द्राचार्यदेव ने की है और जिस टीका के अध्यात्मरस से झरते 'कलशों' पर पंडित राजमल्लजी ने (बनारसीदासजी के पूर्व सौ एक वर्ष पहिले) अध्यात्म की मस्ती से भरपूर 'कलश टीका' रची है, वह पंडित बनारसीदासजी को विशेष प्रिय थी। उस कलश टीका के संबंध में वे लिखते हैं कि—

''पांडे राजमल्ल जिनधर्मी, समयसार नाटक के मर्मी।
तिन्हें ग्रंथ की टीका कीनी, बालबोध सुगम कर दीनी॥''

इस 'कलश टीका' पर से अपने कविराज ने छन्दबद्ध पद्यरूप 'नाटक-समयसार' की रचना की; सं० १६९३ के आश्विन शुक्ला १३, रविवार को वह पूर्ण हुयी। उस समय आगरे में बादशाह शाहजहां का राज्य था। पंडितजी ने ५५ वर्ष तक का अपना कथानक (जो 'अध कथानक' कहलाता है) लिखा है।

उसके बाद जनश्रुति-अनुसार कितने ही प्रसंगों का उल्लेख 'समयसार नाटक' की पीठिका में है। पंडित श्री बनारसीदासजी की मुख्य रचना 'समयसार नाटक' है। इसके अलावा बनारसी विलास, जिनेन्द्रदेव के १००८ नामों की नाममाला (सहस्र अष्टोत्तरी), अर्ध कथानक (आत्मकथा), परमार्थ वचनिका तथा 'उपादान-निमित्त की चिट्ठी' उनने लिखी है। पंडित श्री बनारसीदासजी का जीवन पहिले कैसा था और बाद में अध्यात्मरस द्वारा कैसा उज्ज्वल बना, वह अपने को उनके जीवन चरित्र में दिखता है, और उनकी अध्यात्मरसमय उज्ज्वल जीवनी प्रेरणा देती है। जैनशासन में भगवान तीर्थंकरदेव से लेकर एक छोटे से छोटे सम्यग्दृष्टि का जीवन भी उज्ज्वल, प्रशंसनीय और आराधना की प्रेरणा देनेवाला है, वह धर्म जीवन धन्य है।

पुण्य धर्म है या कर्म ?

[लेखक 'हितैषी' देहली]

जिज्ञासु ने पूछा—पुण्य धर्म है या कर्म ? उत्तर है कि—पुण्य करने के लिये धर्म (कर्तव्य) है किन्तु करने के लिये कर्म है। अर्थात् योग से पुण्य या पाप ही हो सकते हैं। इनसे तीसरा काम नहीं हो सकता। अतएव सांसारिक दु:ख के कारण पाप को छोड़कर पुण्य कार्य ही करना चाहिये। अन्यथा नरक निगोद में जाना पड़ेगा। किंतु संसार से पार होने के लिये इन दोनों को छोड़ना पड़ेगा। क्योंकि पुण्य प्रकृति और पाप प्रकृति ये कर्म के ही भेद हैं। ये आस्रव तत्त्व ही हैं। व्यवहार से इसे भी धर्म कहा जाता है, क्योंकि धर्म के साथ यह बहुत दूर तक चलता रहता है। इस संगति के फल से इसे भी रूढ़ि से 'धर्म' संज्ञा मिल गई है। वास्तव में यह कर्म। पुण्य सोने की बेड़ी है, पाप लोहे की बेड़ी। अत: ज्ञानी की दृष्टि में दोनों हेय हैं।

पहले निश्चय कि व्यवहार ?

निश्चय और व्यवहार ये दोनों दृष्टियां हैं। जैसे देखने के लिये दो आँखें हैं। इसीप्रकार वस्तुस्वरूप ज्ञान के लिये ये दो नय हैं। व्यवहारनिश्चय, वस्तु के नाम नहीं-ज्ञान के साधन हैं। अतएव दोनों साथ चलते हैं। जहाँ निश्चय है, वहाँ व्यवहार भी चलता है, किंतु जहाँ व्यवहार हो, वहाँ निश्चय हो भी और नहीं भी हो। जैसे आत्म-श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि के देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान तथा प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य होते ही हैं किंतु सम्यग्दर्शन के पूर्व देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान हो ही नहीं सकता। क्योंकि उसके प्रतिसमय मिथ्यात्व का बंध हो रहा है। और मिथ्यात्व का बंध केवली भगवान शास्त्र धर्म आदि के अवर्णवाद (निंदा) से होता है। अत: मिथ्यादृष्टि श्रद्धारूप में देव-शास्त्र-गुरु का अवश्य अवर्णवाद कर रहा है, अन्यथा उसके मिथ्यात्व का बंध नहीं हो सकता। कहा भी है—केवलि श्रुतसंघ धर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। अतएव निश्चय के साथ व्यवहार तो चलता है किंतु व्यवहार के साथ निश्चय का नियम नहीं है। अतएव निश्चय शून्य व्यवहार, व्यवहाराभास है। निश्चयशून्य व्यवहार; सच्चा व्यवहार भी नहीं है। जहाँ व्यवहार को निश्चय का कारण कहा गया है, वह भी व्यवहार कथन है। निश्चय और व्यवहार परस्पर में साध्य साधन नहीं किंतु दोनों ज्ञान के साधन हैं।

परिणमन, निमित्त से या उपादान से

प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यत्वगुण पाया जाता है। जिससे प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय परिणमन करती रहती है। परिणमन उसका स्वभावगत धर्म है। यदि वह परिणमन निमित्ताधीन हो तो वह स्वभाव नहीं हो सकता। तथा इससे पदार्थ की स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती है। यदि निमित्त न मिले तो परिणमन रुक जायेगा। जबकि वस्तु प्रतिसमय परिणमन करती ही है। क्योंकि 'गुण पर्ययवद् द्रव्यम्।' गुण पर्याययुक्त द्रव्य होता है। गुण हमेशा द्रव्य के साथ-साथ रहता है। पर्याय क्रम से बदलती रहती है। पर्याय दो तरह की होती है। एक शुद्ध पर्याय, दूसरी अशुद्ध पर्याय। शुद्ध पर्याय परनिरपेक्ष होती है। अशुद्ध पर्याय परसापेक्ष होती है। यहाँ परसापेक्ष का अर्थ है निमित्त उसके साथ अवश्य है किंतु निमित्त अपना काम करता है, उपादान अपना काम करता है। जैसे बिना लोहे की लाइन के रेल नहीं चलती है। किंतु लाइन अपने स्थान पर है, रेल अपने स्थान पर, दोनों अपने स्वतंत्र काम कर रहे हैं। रेल चलती है तो लाइन पर ही चलती है किंतु लाइन रेल को चलने की प्रेरणा नहीं दे रही है। प्रेरक निमित्तकारण भी अपना काम करता है। हवा अपना चलने का काम कर रही है, पतंग अपनी योग्यता से उड़ रही है। बिजली अपना करेंट दे रही है, पंखा अपनी योग्यता से चल रहा है। यदि बिजली पंखे को चलाती है तो टेबल को भी चलना चाहिये। किसी ने पूछा—बिजली नहीं चलती तो पंखा बिजली के बिना क्यों नहीं चल जाता? आचार्यों ने कहा उसमें योग्यता ही इसी प्रकार की है। जिसप्रकार सिद्ध भगवान ऊर्ध्व शक्ति होते हुए भी लोकाकाश से ऊपर नहीं जाते तो क्या वे पराधीन हैं? किंतु नहीं। जीवद्रव्य लोक का ही द्रव्य है, उसमें अलोक में जाने की योग्यता ही नहीं तो पराधीनता का क्या प्रश्न? पदार्थों की अपनी योग्यता है। योग्यता में शंका को स्थान नहीं होता। यदि निमित्त कुछ करता है तो मुनिराज को देखकर कोई मूर्ख ग्लानि, घृणा, द्वेष या विकार भाव करता है तो क्या मुनिराज ने यह कराया है या उसमें ऐसा स्वयं विकार विद्यमान है! जैनाचार्यों ने तो कहा—उसमें ही वैसा विकार विद्यमान था। निमित्त का क्या द्वेष? अनेक शास्त्रों में व्यवहार से कथन मिलता है कि ज्ञानावरणी कर्म के उदय से ज्ञान रुका है। कर्म के नाश से ज्ञान प्रगट हुआ। इसका यही अर्थ है कि ज्ञान को रोकनेवाले कार्य पूर्वकाल में इसने किये थे, उससे ज्ञान रुका है, न कि कर्म के कारण। कर्म तो निमित्तमात्र है। जैसे जेल में कैदी चोरी आदि करणी के कारण बंद है, कहा जाता है जेलर ने रोक रखा है। जेलर तो निमित्तमात्र है। पंडित

टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में जहाँ कहीं भी कर्म के उदय का उल्लेख किया है, वहाँ 'कर्म के उदय के निमित्त करि' वहाँ निमित्त शब्द का प्रयोग किया है। मिथ्यादृष्टि जीव निमित्त को दोष देता है। ज्ञानी जीव अपने विकार (पुरुषार्थहीनता) को दोष देता है। अज्ञानी जीव मिथ्या प्रतिभास द्वारा निमित्त को उपादान मान लेता है और उपादान को पराधीन, किंतु ज्ञानी जीव उपादान को सर्वशक्तिसम्पन्न मानता है, निमित्त को सहकारी (साथ में करनेवाला) व्यवहार कारण मानता है। ज्ञानी की दृष्टि अपने पुरुषार्थ पर रहती है। अज्ञानी की याचकवृत्ति होती है। उसे अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता। वह कर्मों से कृपा की भीख माँगता है। ज्ञानी मानता है। 'कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।' अज्ञानी की मान्यता है—

'कर्म बड़े बलवान जगत में हैं दुखदाई।'

द्रव्यसंग्रह में कहा है—जीव व्यवहार से कर्म फल भोगता है, निश्चय से ज्ञानदर्शन।

जहाँ तक परद्रव्य के आलम्बन को भला मानेगा; व्यवहार-पराश्रय करने योग्य है, प्रथम चाहिये, ऐसा मोह करेगा, वहाँ तक पर में कर्ता भोक्ता के व्यवहार में-उपचार में फँसता ही रहेगा।

(प्रकाशचंद्र शास्त्री 'हितैषी')

सर्व सुख सम्पत्ति का निधान ऐसा मैं हूँ; अपने स्वरूप को देख-देखकर जो तृप्ति अनुभव में आती है..... तो भी अनुभव तृप्ति का अंत आता नहीं; और बाहर निकलने की वृत्ति (इच्छा) होती ही नहीं।

विविध वचनामृत

[आत्मधर्म का चालू विभाग : लेखांक १२, अंक ४ से आगे]

(१७१) बलिहारी संतों की

ज्ञानी संसार में गृहस्थावस्था में रहता हो, राग-द्वेष-क्रोधादि परिणाम अमुक होते हों किंतु उसकी लार लम्बी चलती नहीं, क्योंकि उस ही समय भिन्नता का भान भी साथ में ही है। संसार के चाहे जैसे क्लेश-प्रसंग अथवा प्रतिकूल-प्रसंग आयें, लेकिन जहाँ चेतन के ध्यान की स्फूर्ति जगी, वहाँ वह सभी क्लेश कहीं भी भाग जाते हैं; चाहे-जैसे प्रसंग में उसके श्रद्धा-ज्ञान अटक नहीं जाते। जहाँ चिदानंद-हंसा का स्मरण किया, वहाँ ही दुनियां के सब क्लेश लुप्त हो जाते हैं; तो उस चैतन्य के अनुभव में तो क्लेश कैसा ? उसमें तो अकेला आनंद है... अकेली आनंद की ही धारा बहती है। वाह ! ऐसे संतों की बलिहारी है।

(१७२) सुख की श्रद्धा

'जैसे सिद्ध भगवंत किसी भी बाह्य विषयों के बिना ही स्वयं की आत्मा से ही सुखी हैं, वैसे ही मेरा सुख भी मेरी आत्मा में ही है। सुख आत्मा का स्वभाव ही है, वह कहीं बाहर से नहीं आता—ऐसा जिसने निश्चय किया, उसकी पाँच इन्द्रियों के किसी भी विषय में सुख की कल्पना छूट जाती है। 'मेरा सुख मेरे स्वभाव में ही है'—ऐसी जहाँ तक श्रद्धा न हो और स्वयं के आत्मसुख का स्वयं को अनुभव न हो, वहाँ तक किसी को किसी प्रकार से पर में सुख की कल्पना, मोह और बाह्य विषयों की आकुलता नहीं मिटती।

(१७३) जड़ी-बूटी

चैतन्यस्वरूप का चिंतन करना संसार के सर्व दु:खों की थकान दूर करने की जड़ी-बूटी है। इसलिये कहते हैं कि अरे जीवों ! इस चैतन्य-स्वरूप के चिंतन में क्लेश तो जरा भी नहीं और उसका फल महान है। महान सुख की प्राप्ति उसके चिंतन में होती है, तो ध्यान में चिंतवन क्यों नहीं करते ! और बाहर में ही उपयोग को क्यों घुमाते हो ? इस चैतन्य के चिंतनरूप जड़ी-बूटी तुम्हारे पास ही है, उसको सूँघते ही संसार के सर्व क्लेश की थकान क्षणभर में उतर जायेगी।

(१७४) स्वरूप साधना में एक का ही अवलंबन

निज स्वरूप की साधना स्वयं के स्वभाव के ही अवलंबन से होती है, उसमें दूसरे किसी का भी अवलंबन काम नहीं आता। इसलिये हे भव्य! समस्त परद्रव्यों से निरालंबी होकर अपने स्वद्रव्य का एक का ही अवलंबन ले। पर के अवलंबन से स्वरूप की साधना नहीं होती; स्व के ही अवलंबन से स्वरूप की साधना होती है।

(१७५) लक्ष्मी की गति

पुण्य हो वहाँ तक, लक्ष्मी खर्च करने से कम नहीं होती।

और पुण्य दूर होते ही चाहे जितनी प्रयत्न करो, तो भी लक्ष्मी नहीं रहती।

विनाशी (क्षणस्थायी) ऐसी लक्ष्मी की सबसे उत्तम गति वह है कि देव-गुरु-शास्त्र की सेवा के सत् कार्य में उसका उपयोग करना।

(१७६) तू धन का मालिक अथवा रखवाला

जिसको पुण्योदय से कुछ धन मिला है, परंतु जो देव-गुरु-धर्म की सेवा, दान वगैरह सत्कार्यों में उस धन का उपयोग नहीं करता और केवल कुटुम्ब-स्त्री-पुत्रादि के लिये ही धन इकट्ठा करके पाप बंध करता है, तो वह जीव यथार्थ में धन का मालिक नहीं, लेकिन धन का दास है, रखवाला है। भाई, तूने पहिले कुछ पुण्यभाव किया, उससे तुझको यह लक्ष्मी वगैरह मिली तो अब आत्महित के निमित्त की ओर झुकाव करके, धनादि की तीव्र तृष्णा छोड़ और देव-गुरु-धर्म के सत्कार्यों में उसका उपयोग कर। कुटुम्ब आदि के लिये संग्रह कर रखने का भाव, उसमें तो तुझको पाप बँधता है, और देव-गुरु-धर्म के लिये लक्ष्मी खर्च करने के उत्साह में धर्म का प्रेम पोषित होता है, और पुण्य बँधता है। इसलिये अपने परिणाम का विवेक करके चल।

(१७७) पुण्य के मार्ग अनेक, धर्म का मार्ग एक

जगत में पुण्य के मार्ग बहुत हैं, लेकिन धर्म का मार्ग एक ही है कि निज स्वभाव का आश्रय करना। जितने शुभराग के प्रकार हैं, उतने पुण्य के प्रकार हैं। धर्म तो सर्व रागरहित वीतरागभावरूप एक ही प्रकार का है। सम्यग्दर्शन से शुरु करके अंत तक केवलज्ञान तक जितने वीतरागता के अंश हैं, उतना ही धर्म है। जितने राग के अंश (दशवें गुणस्थान तक) हैं, वे धर्म नहीं। इसप्रकार 'धर्म मार्ग' और 'पुण्य मार्ग' भिन्न-भिन्न हैं। 'पुण्य का मार्ग' कुछ धर्म का मार्ग नहीं।

(१७८) जानने का स्वभाव आत्मा का है, इन्द्रियों का नहीं

पाँच इन्द्रियों द्वारा उस-उस इन्द्रिय के एक विषय का ही ज्ञान होता है, लेकिन यथार्थ में जाननेवाला आत्मा है, वह पाँच इन्द्रियों से पृथक् रहकर पाँच इन्द्रियों के विषय को जानता है।

'आँख देखती है' ऐसा नहीं होता, लेकिन 'आँख द्वारा मैं देखता हूँ'—ऐसा होता है। यह ऐसा सूचित करता है कि जाननेवाला आँख से भिन्न है।

'जीभ रस को जानती है' ऐसा नहीं होता, लेकिन 'जीभ द्वारा मैं रस को जानता हूँ' ऐसा होता है। यह ऐसा सूचित करता है कि रस को जाननेवाला जीभ से भिन्न है।

'कान शब्द सुनता है' ऐसा नहीं होता, लेकिन 'कान द्वारा मैं सुनता हूँ,' ऐसा सूचित करता है कि शब्दों को जाननेवाला कान से जुदा है।

इसप्रकार पाँच इन्द्रियों से आत्मा पृथक् है, इन्द्रियों में कुछ जानने का स्वभाव नहीं, आत्मा में ही जानने का स्वभाव है; और वह भी इन्द्रियों द्वारा जाने ऐसा स्वभाव नहीं, लेकिन स्वयं के ज्ञान स्वभाव से ही जानना स्वभाव है।

(१७९) आत्मा के अवयव

आत्मा के गुण-पर्याय आत्मा के अवयव हैं। आत्मा के अवयव हों ? हाँ, जड़ इन्द्रियाँ वास्तव में आत्मा के अवयव नहीं, लेकिन ज्ञान-दर्शन-सुख आदि गुण ही आत्मा के यथार्थ अवयव हैं। अवयव अर्थात् अंशी का अंश; जड़ इन्द्रियाँ वे कुछ आत्मा के अंश नहीं, अर्थात् वे आत्मा के अवयव नहीं और उनके द्वारा आत्मा कुछ कार्य नहीं करता। अनंत गुण का पिण्ड आत्मा, वह अवयवी और उसके अनंत गुणांश, वे उसके अवयव। अथवा मति-श्रुतज्ञान ये आत्मा के अवयव हैं, उन अवयवों द्वारा स्वसंवेदन से सारा (अखंड) अवयवी आत्मा जाना जाता है। जैसे मनुष्य स्वयं के हाथ वगैरह अवयवों से स्वयं का काम करता है, वैसे मति-श्रुत-ज्ञान आत्मा के हाथ हैं। उन मति-श्रुतज्ञानरूपी अपने अवयवों द्वारा आत्मा स्वयं के स्वसंवेदन का काम करता है। लेकिन जिस आत्मा के अवयव नहीं, ऐसा आत्मा इन्द्रियादि द्वारा जाना नहीं जा सकता। असंख्य प्रदेश अपेक्षा से भी आत्मा के असंख्य अवयव हैं।

(१८०) नय

नयों के ऐसे तो अनंत भेद हैं। भिन्न-भिन्न अनंत प्रकार के नयों का ज्ञान साधक को नहीं हो सकता। संक्षेप में शुद्धनय और अशुद्धनय, इन दो नयों द्वारा भी वस्तुस्वरूप जानकर साधक

स्वयं का प्रयोजन सिद्ध कर सकता है। परद्रव्यों से तथा परभावों से भिन्न स्वयं के शुद्ध आत्म-स्वभाव को अनुभव कराये, वह शुद्धनय है, पर्याय की अशुद्धता का तथा पर के संबंध का ज्ञान कराये, वह अशुद्धनय है। इसप्रकार दोनों नयों को जानकर, स्वयं के शुद्धस्वरूप का ग्रहण और अशुद्धता के त्याग द्वारा वह नयज्ञ जीव स्वयं के स्वानुभवरूप प्रयोजन को सिद्ध करता है। (यहाँ शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय, अशुद्धनय अर्थात् व्यवहारनय)।

श्री भक्तामर स्तोत्र

[प्रवचनकार - श्री कानजीस्वामी]

(गुजराती लेखक - ब्र०हरिलाल जैन; हिन्दी अनु० - बंशीधर शास्त्री एम०ए०)

श्लोक - ९

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं।
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानिहन्ति॥
दूरे सहस्त्र किरणः कुरुते प्रभैव।
पद्माकरेषु जलजानि विकास भांजि॥

वीतरागी कथन और मनन सब दोषों का नाश करनेवाले हैं। हे जिनेश्वर भगवान! आप संपूर्ण दोष रहित हैं और आपका स्तवन भी दोष रहित है; आपका निर्दोष स्तवन सब दोषों का नाश करनेवाला होता है। आपने वीतरागभाव प्रगट किया है। हे नाथ! आपने वीतरागता का मंथन कर अंतर्शक्ति में से सर्वज्ञपद और वीतरागता प्रगट की है। इसलिये आपकी वाणी में सर्वज्ञता और वीतरागता ही प्रगट की जाती है। अतः मैं आपकी वीतरागता की कथन को

समस्त दोषों के नाश करने में कारण मानता हूँ। सुकथा किसे कहें ? जो वीतरागता एवं सर्वज्ञता प्रगट करे, वह सच्ची कथा है।

जो आपके इष्टोपदेश का यथार्थ भाव समझे, उसने आपकी कथा सुनी, ऐसा कहा जा सकता है। जो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र कर इसी भव में मोक्षदशा प्रगट करे, उसकी तो क्या बात करनी! किंतु अविकारी श्रद्धा-ज्ञान और आनंदमय स्वभाव की बात और निर्मल चैतन्यस्वभाव के आश्रय से कल्याण करनेवाली कथा भी दोष का नाश करनेवाली है। निमित्त और राग-द्वेष की प्रवृत्ति छुड़ाकर चैतन्यस्वभाव की तरफ प्रवृत्ति करने की बात है, वही सम्यक् कथा है। सर्वज्ञ वीतरागपद पाने की बात, उसे पाने की प्रेरक कथा है, अतः पवित्र है। जो निमित्त से या पुण्य से लाभ बताता है, वह वीतराग की कथा नहीं है किंतु अनंत संसार के बंधनरूप पाप की पुष्टि करनेवाली-मिथ्यात्व के कीर्तन करनेवाली विकथा है।

जो अकषाय परमानंद मूर्ति चैतन्यसत्ता है, उसको भूलकर अल्पज्ञता; और राग-द्वेष में लीन है, उसे कहते हैं कि तेरे में नित्य-निरंतर पूर्णानंद स्वभाव है, जो उसमें दृष्टि करे एवं प्रवृत्ति करे, उसके पाप का नाश हुए बिना रहता नहीं।

अज्ञानी ने सच्ची कथा नहीं सुनी; जिसने व्यवहार-पराश्रय-निमित्त और पुण्य से लाभ माना है, उसने वीतराग की कथा नहीं सुनी। हे प्रभु! आपकी सत् कथा जगत के जीवों के मिथ्यात्व का नाश करनेवाली है। जैसे हजारों किरणों से युक्त सूर्य क्षेत्र अपेक्षा दूर है, वैसे भाव और स्वकाल अपेक्षा केवलज्ञान दूर है, जैसे प्रातः होते ही (सूर्य प्रकाश में) हाथ की रेखाएँ दिखती हैं, वैसे ही हे नाथ! तात्त्विक अन्तर्दृष्टि के अवलोकनपूर्वक आपके स्तवन और पूर्णानंद की रमणता की तो भिन्न बात है किंतु तेरी कथा अर्थात् वीतरागस्वभाव की वार्ता भी जिसे रुचे, उसके मिथ्यात्व का नाश होता है।

तब अनादिकाल से नहीं प्रगट हुआ केवलज्ञान रूपी प्रातः काल होता ही है। सूर्य का सीधा प्रकाश दूर होते ही जाति विशेष के फूल खिलते हैं। वे प्रातः होते ही खिले हुए नहीं रहते, विकसित होने की योग्यतावाला कमल सूर्य के उषा काल में स्वयं विकसित होते हैं। उसीप्रकार आपकी वार्ता सुनने से भव्यजीव विकसित होते हैं। आपकी वीतराग कथा सुनने से हमारा रोम-रोम पुलकित हो जाता है और अपूर्व प्रसन्नता द्वारा असंख्य निज प्रदेश में नए अंकुर प्रस्फुटित होते हैं।

धर्मी जीव वीतराग प्रभु के निर्दोष स्तवन को अनंत दिव्य शक्तिवान मानता है।

अज्ञानी की भक्ति में कोई दिव्यता नहीं है। हे प्रभु! तेरी कथा में पराश्रय-व्यवहार-राग का आदर नहीं है किंतु अकेले वीतरागस्वभाव का ही आदर है। पर की ओर प्रवृत्ति, चैतन्य की जागृति को रोकनेवाली है, राग जागृतदशा नहीं है। स्वसन्मुख होते ही ज्ञान की जागृतदशा है और उसके द्वारा आत्मा जागृत कहाती है। हे प्रभु! निर्दोष स्तवन में अनंत शक्ति है। जो सत्पुरुष अंतरंग में एकाग्र होकर पवित्रता में रमता है, उसकी तो क्या बात? किंतु जो आपकी पवित्र कथारूप सत्शास्त्रों का स्वाध्याय करे, उसके भी बहुत भवताप का नाश होता है क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग कथित शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता ही है। पंचास्तिकाय शास्त्र में शास्त्र तात्पर्य का अर्थ बतलाया है कि चारों अनुयोगों का सार वीतरागता है।

जो राग और निमित्त से लाभ मानता है, उसे शास्त्र पढ़ना ही नहीं आता। सब जगह द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता और सर्वज्ञस्वभाव का ही आदर करना चाहिये। जैसे सर्वज्ञ भगवान ने वीतरागदृष्टि एवं ज्ञानपूर्वक राग रोका है, वही तेरे करने योग्य है। प्रथम ही से ऐसी श्रद्धा करनी चाहिये।

प्रथम व्यवहार या राग करने को कहा जावे तो वे राग को कैसे दूर करे? भाई! शुभराग भी किंचित आदर करनेयोग्य नहीं है। उपसर्ग काल में मुनि मौन रहते हैं और उपदेश नहीं देते हैं। उनके अंदर भक्तिरूप स्तवन की झलक जगी, पुण्य के उदय से ४८ ताले टूटे। राजा को विश्वास नहीं हुआ, पुनः उसने उनको जेल में डाल दिया, मजबूत पहरा लगाया किंतु फिर भी ताले टूट गये। उसने तीसरी बार विरोधियों को भी वहाँ खड़ा रखा, फिर भी ताले टूट गये, ज्ञानस्वभाव मुक्तरूप से दृष्टि में आया, उसे कोई भी नहीं रोक सकता।

हे प्रभु, तेरा भक्त तालेबंदी में नहीं रहता। हे प्रभु! तेरी वार्ता में भी सामर्थ्य है, उससे पाप नष्ट होते हैं। जैसे कली में जिस काल में विकसित होने की योग्यता हो, उसी काल में विकसित होती है, उसमें सूर्य अथवा चंद्रमा निमित्तमात्र कारण है।

यहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताते हैं कि जिस कमल में खिलने की योग्यता है, उसी से खिलता है, वैसे ही हमारी योग्यता है, तब उसी से भक्ति करते ही पाप नष्ट हो जाते हैं।

श्री पद्मनंदी आचार्य ने दान के प्रसंग में कहा है कि—लोभरूपी कुएँ की खोह में फँसे हुए जीवों को बाहर निकालने के लिये दान का उपदेश देंगे, फिर वर्णन आया है कि जैसे कौवे

को जली हुई खिचड़ी मिले किंतु वह अकेला नहीं खाता किंतु काँ-काँ कर २५ कौवों को इकट्ठा कर खाता है। उसीप्रकार प्रभु! जिसके पास धनादि है, उन्होंने पहले पुण्यबंध किया था, उसने उसके पवित्र गुण दग्ध हुए थे। अब उस पुण्योदय से लक्ष्मी मिली। अब आचार्य गृहस्थों को कहते हैं कि यदि तू लक्ष्मी को दान में नहीं देगा तो कौवे से हल्का हो जायेगा।

अन्त में वे कहते हैं कि मैंने बहुत उपदेश दिया, किंतु वह उपदेश किसको लागू होगा?—जैसे गुंजारव करता हुआ भ्रमर जिस फूल की कली पर बैठेगा, वह कली विकसित हो जावेगी किंतु जो पत्थर की कली होगी, वह विकसित नहीं होगी। वैसे ही उपदेश में तृष्णा घटाने की बात सुनकर योग्य जीव विकसित होंगे, उनके लिये उपदेश निमित्त है। हमारे स्वभाव की योग्यता से स्वभाव विकसित हो जाते हैं और पाप का नाश होता है। उसमें आपकी भक्ति ही निमित्त है।

निर्मल बुद्धिधारक चतुर इन्द्र भी आपकी भक्ति में सराबोर रहता है, शकेन्द्र नामक इन्द्र भी एक भवतारी है, वह मनुष्य होकर मुक्तिदशा प्राप्त करेगा, वह भी अपनी लघुता एवं नम्रतापूर्वक प्रभु के पास उत्कृष्ट विनयपूर्वक भक्ति करता है।

पूर्ण वीतरागी हुए, उन्हें किसी की भक्ति नहीं होती और मिथ्यादृष्टि को भी भक्ति नहीं होती। 'सम्यग्दर्शन होने के बाद भगवान की पूजा और भक्ति कैसी?' इस प्रश्न का उत्तर इसप्रकार है, स्वर्ग का स्वामी इन्द्र भी जिनेन्द्रदेव की स्तुति, भक्ति और पूजा करता है, वह १००८ नाम लेकर उत्तम प्रकार से स्तुति करता है। अतीन्द्रिय ज्ञानमय अनंत गुण संपन्न पूर्ण चिदानंदस्वरूप आत्मा का पूर्ण वर्णन इन नामों से हो जाये, ऐसा नहीं है। ''निज चैतन्यस्वरूप में स्थित होने से ही मुक्ति है'' उसका साधन अंतरंग में है, निज कारणपरमात्मा का आश्रय भूतार्थ ज्ञायकस्वभाव का अभेद आश्रय ही एक कारण है, यह है तो अन्य को निमित्तमात्र कारण कहा जाता है। ऐसा निर्णय जिन्होंने प्रारंभ में ही कर लिया है, उन ज्ञानियों के ही यथार्थ भक्ति होती है।

स्तुति कैसी है? महा चतुर देवांगनाओं का चंचल चित्त भी उसे सुनकर स्तंभित हो जाता है। बारह अंग शास्त्र के ज्ञाताओं के द्वारा की गई स्तुति तीन लोक के जीवों के चित्त का क्लेश दूर करती है और उन्हें प्रसन्नता देती है। इन्द्र भक्तिपूर्वक वीणा बजाता है, तब भक्तिरस में जिसकी श्रद्धा में एक वीतरागता ही उपादेय है, उन सबका चित्त प्रसन्नता द्वारा स्तंभित हो जाता

है। धर्मात्मा जहाँ-तहाँ वीतराग भगवान की महिमा ही महिमा देखता है। पद्मनंदी आचार्य नग्न दिगंबर संत थे, भक्ति में चित्त उमड़ पड़ा है—

चंद्रमा को देखकर कहते हैं कि उसमें हरिण का चिह्न दिख रहा है, हे नाथ! यह चंद्रमा पर कलंक का चिह्न नहीं है, अपितु स्वर्ग के देव परमभक्ति से आपके गुण गाते हैं, उस संगीतमय विरुदावली को सुनने के लिये यहाँ से हरिण गया, वही वहाँ दिखाई पड़ता है। इसप्रकार उसने वहाँ भी आपकी पवित्र भक्ति ही देखी। हे नाथ! इन्द्र की भक्ति को कौन पसंद नहीं करे? सब ही करें।

निश्चयभक्ति का अंश प्रगट हुआ हो तो शुभराग व्यवहारभक्ति है; आत्मा सदा निर्विकार ज्ञानानंद है, उसका सत्कार कर उसमें एकाग्र होना निश्चयभक्ति है। ज्ञानी को इस निश्चयभक्तिसहित व्यवहारभक्ति होती है। सर्वज्ञ तीन काल-तीन लोक का स्वरूप जानते हैं, मैं भी वैसे ही ज्ञानस्वभाववाला हूँ, स्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा निश्चय करना निश्चयभक्ति है। तदनंतर धर्मात्मा को शुभरागरूप भक्ति हो, उसे व्यवहारभक्ति कही है।

हे भगवान! देव आपके भक्त हैं। उन्होंने आपके चरण कमलों की इसप्रकार आराधना की है कि उनके मुकुट के मणियों की शोभा आपके चरण कमलों पर ही निर्भर करती है। आत्मा का स्वभाव जैसा है, वैसा जानना पापनाशक है। जो शुभराग हुआ, वह अशुभ का नाशक है।

चौरासी लाख योनियों में भटकनेवाले जीव को आपका उपदेश ही तरने में आधारभूत एवं हितरूप है। इसप्रकार आपका उपदेश सहायक है। हे नाथ! श्रुतज्ञान में पूर्ण श्रुतकेवली तुल्य देव भी आपकी ही भक्ति करते हैं, फिर मैं करूँ तो क्या आश्चर्य है? बारह अंगशास्त्र के ज्ञाता क्षायिक सम्यग्दृष्टि इन्द्र को शुभराग होता है, इसलिये वह आपकी भक्ति करता है।

ज्ञानानंदस्वभाव के भान में वीतरागस्वरूप की भक्ति का उल्लास हुआ। उससे अन्य समस्त महान सम्यग्दृष्टि आपकी भक्ति में सावधान हैं, ऐसा मैं देखता हूँ। वे अंतरंग में शुद्धस्वभाव के प्रति तन्मय होते हैं।

श्रुतकेवली साधु भी अति आदर के साथ आपकी दिव्यभक्ति का प्रवाह बहाते हैं। प्रभो! मैं भी आपकी भक्ति करता हूँ, जिनेन्द्र भगवान देवों के द्वारा पूजित तथा पाप समूह के नाशक हैं, तथा वे हितकारी उपदेश करते हैं। आपने आत्मा से ही उत्पन्न होनेवाले सुख के उपाय-मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है। १४ पूर्व और बारह अंगों में वीतरागता प्रगट करने का

उपदेश दिया है। इसलिये मैं आपकी भक्ति करता हूँ—नमस्कार कर प्रथम जिनेश्वर श्री आदिनाथ की स्तुति करता हूँ।

इन्द्र १००८ नामों के द्वारा आपकी स्तुति करता है, उनमें नाम तो क्रमवर्ती हैं, आपके केवलज्ञान की पर्याय काल अपेक्षा एक के बाद एक क्रमशः होती है किंतु भाव अपेक्षा आपके ज्ञान तो अक्रम (युगपत्) सबको एक समय में जानता है। आपने लोकालोक को अक्रमरूप से जाना किंतु पदार्थों की अवस्था तो क्रमशः होती है। पर्याय एक के बाद एक होती हैं। लोग कहते हैं कि—क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहाँ से लाए? भाई, यह नवीन नहीं है–सर्वज्ञ स्वभाव के निर्णय के साथ यह सम्यक्पुरुषार्थ का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय आता है। उसमें ही कर्तापन की आकुलता मिटकर स्वसन्मुखज्ञातापने की अपूर्व धीरज शांतिमय सच्चा समाधान करनेवाला सत्यपुरुषार्थ है, बाहर में करना, न करना किसी के अधिकार में नहीं है। क्रमबद्ध शब्द सोनगढ़ का नहीं है। इस स्तोत्र के ३९ नंबर के श्लोक में क्रम की बात आवेगी। वहाँ 'क्रम' शब्द का अर्थ 'नग' है; 'पंचाध्यायी ग्रंथ में' 'क्रमबद्धपर्याय' के लिये पर्यायें क्रमभावी हैं, ऐसा कहने के लिये क्रम में पग का दृष्टांत है। जैसे पैर एक के बाद एक रखा जाता है, वैसे ही आपका केवलज्ञान क्रम से वर्तता है और लोकालोक की अवस्था क्रमरूप है; उसको आप एक साथ (अक्रम युगपत्) जानते हैं। महाकवि बनारसीदासजी कृत जिन सहस्त्रनाम में भगवान का एक नाम क्रमवर्ती है। स्व-पर की पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं, जिसने ऐसा निर्णय कर लिया, उसे शुभराग के काल में सर्वज्ञ भगवान की भक्ति का वेग आता है। अतः मैं भी आपकी भक्ति करता हूँ।

आपकी स्तुति करनेवालों को सिंह नहीं मार सकता। उसीप्रकार विकारी परिणाम स्वभाव की एकता को नहीं तोड़ सकते। हे प्रभु! आपने पूर्णानंद प्राप्त किया है, इसका ज्ञान मेरे लिये सर्वज्ञ भगवान का आलंबनरूप है।

प्रतिकूल संयोग आवे और सिंह दौड़कर आवे, उसमें हम दब नहीं जाते। सिंह का पंजा हरिण को मारने के लिये आता है किंतु आपके चरण कमल की सेवा करनेवाले को नहीं मार सकता। उसीप्रकार विकारी परिणाम, स्वभाव की एकता नहीं तोड़ सकते। आपकी भक्ति करनेवाले के ऐसे पुण्यबंध हो जाते हैं कि – उससे पाप का संक्रमण हो जाता है। *क्रमशः*

अरे! शर्मजनक देह अनादिकाल से क्यों धारण करते हैं ?

जीव अनादि-अनंत है, इसलिये उसका जन्म-मरण नहीं होता किंतु जीव को अनादिकाल से अपने स्वरूप का भ्रम (मिथ्यादर्शन) बना हुआ है, इसलिये उसका शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाह संबंध होता है, और वह अज्ञान से शरीर को अपना मानता है और अनादिकाल से जीव की यह विपरीत मान्यता चली आ रही है कि मैं शरीर की हलन-चलन आदि क्रिया कर सकता हूँ; शरीर की क्रिया से धर्म हो सकता है, शरीर से मुझे सुख-दु:ख होते हैं इत्यादि। जब तक यह मिथ्यात्वरूप विकारभाव जीव करता रहता है, तब तक जीव का नये-नये शरीरों के साथ सम्बन्ध होता रहता है। उस नये शरीर के संबंध (संयोग) को जन्म कहते हैं और पुराने शरीर के वियोग को मरण कहते हैं। सम्यग्दृष्टि होने के बाद जब तक चारित्र की पूर्णता नहीं होती, तब तक जीव को नया शरीर प्राप्त होता है। उसमें जीव का कषायभाव कारण है, राग-द्वेष बड़ा पाप नहीं है। मिथ्यात्व (अपने को भूलना-पर से भला-बुरा मानना, राग करने योग्य-भला मानना यह मान्यता) सबसे बड़ा पाप है। सम्यग्दर्शन से वह छूटता है।

पूरण शुद्धात्म सत्कार

शुद्धनय द्वारा देखने पर उत्तम-मंगल और नित्य शरणरूप निजपरमात्मस्वरूप सदा स्वयं शक्तिरूप विद्यमान है, समीप है, अक्रम है, प्रत्यक्ष है, अवस्थित है।

'आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं' ज्ञान सिवा दूसरा क्या करे ?

जैसे सिद्ध भगवान अनादि अनंत १०० टका जीव है, वैसा मैं भी, शत-प्रतिशत जीव हूँ, परिपूर्ण ज्ञानानंदमय अनंत गुण सहित हूँ-रहित नहीं हूँ। ऐसा असली स्वरूप का निरंतर आदर (श्रद्धा) करना कोई अपराध नहीं है, है तो इसी समय ऐसा परमात्मा, किंतु वर्तमान पर्यायमात्र को देखता है तो-पामरता ही-दीनता ही दिखेगी। अत: पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर

अरे! हमको ऐसी दशा कब आवे ऐसी भेदवासना, पर्याय को ढूंढ़ने की दु:खबुद्धि को छोड़कर मैं इसी समय त्रैकालिक परिपूर्ण हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिये। नित्य विज्ञानघन अतीन्द्रिय ज्ञानमय अखंड समतारस से भरा हूँ, वही मैं हूँ, ऐसी अंदर में एकताबुद्धि और अनुभव करना अपने अधिकार में है। उस कार्य में मुझे कोई बाधक नहीं है।

होता है अपना ज्ञान और मानता है कि मैं पर को जानता हूँ तो वह मिथ्या मान्यता दु:ख देती है। संयोग दु:ख का कारण नहीं, ज्ञान दु:ख का कारण नहीं, बीच में खोटी गिनती (मैंने की हुई ममता) ही दु:ख और दु:ख का कारण है, अब दु:ख मिटाना नहीं है, सुख को लाना नहीं है, जैसा आलंबन वैसा अनुभव, प्रकाश किया अंधकार उत्पन्न ही नहीं हुआ। मैं अखंड ज्ञान शांतिमात्र हूँ। ऐसी निरंतर श्रद्धा करना–आकुलता अशांति को जाननेवाला उतना ही नहीं है। निरंतर विषमता का निषेध करनेवाला अखंड ज्ञान चेतना में सावधान हूँ, ऐसी दृढ़तारूप मैं हूँ। सम्यग्दृष्टि जीव निरंतर ज्ञानचेतना के स्वामित्वरूप परिणमन करनेवाले हैं–अज्ञानचेतना के निषेधरूप परिणमता है।

सर्वज्ञस्वभाव को सामने रखकर स्व–सन्मुख ज्ञातापना की धीरज रखना, वही सच्चा पुरुषार्थ है, सुखी होने का वही उपाय है।

हे जीव! तू सदा सर्वसमाधानरूप धीरज रख, धीरज रख, धैर्य रख। यही कर सकते हैं। न तो इस भूमिका के ज्ञान को रोक सकते हैं, न राग को, किंतु स्वसन्मुख ज्ञाता हूँ, मैं मेरे ज्ञान की स्वच्छता को ही जानता हुआ अपूर्व धैर्य रख सकता हूँ, विराट–साक्षी–बेहद–अपार धीर बन। सर्व जीव है ज्ञानमय, क्षणिक आश्रय तत्त्वमय नहीं है, ऐसे समभाव को धारण करनेवाला हूँ।

[साधक की जागृत भावना]

आता सदा प्रीतिवंत बन, आमां सदा संतुष्टने
अनाथी बन तूं तृप्त तुजको सुख अहो! उत्तम थशे।

तत्त्वचर्चा

[४]

[तत्त्वरसिक जिज्ञासुओं का प्रिय विभाग]

पूज्य स्वामीजी के समक्ष तत्त्वचर्चा में जो प्रश्नोत्तर होते हैं, उनमें से तथा शास्त्रों में से यह विभाग तैयार किया जाता है, अब इस विभाग में दस प्रश्न-दस उत्तर दिये जायेंगे।

(४१) **प्रश्न**—असंख्य प्रकार के जो परभाव हैं, उन सबसे बचने के लिये क्या करना ? एक परभावों से बचे वहाँ दूसरा परभाव उत्पन्न हो जाता है तो क्या करना ?

उत्तर—नित्य स्वभाव में प्रविष्ट होते ही सभी परभाव एक साथ छूट जाते हैं, प्रथम भूतार्थ का परिग्रहण करते श्रद्धा में से एक समय में सर्व विभावों का त्याग होता है और चारित्र अपेक्षा स्वालंबन के बल अनुसार परभाव का त्याग होता ही है। यह आत्मा ऐसा चैतन्य तेज का पुंज है कि उसका स्फुरण मात्र ही समस्त परभावों के इन्द्रजाल को (विकल्प तरंगों को) तत्क्षण भगा देता है। नित्य स्वभाव के दरबार में परभावों का प्रवेश नहीं है, स्वभाव में आये बिना परभाव के आश्रय से परभावों से बचा नहीं जा सकता, इसलिये एकसाथ समस्त परभावों से बचने का उपाय यह है कि वहाँ से स्वामित्व और उपयोग को हटाकर उपयोग को स्वभाव में लगायें।

(४२) **प्रश्न**—सच्चा मोक्षमार्ग कब शुरु होता है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन हो और स्वानुभव की कणिका जागने पर मोक्षमार्ग सच्चा; इसके बिना मोक्षमार्ग सच्चा नहीं है अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं। अंतर्दृष्टि के बिना अज्ञानी शुभराग करता है और उस व्यवहाररत्नत्रयादि के शुभराग को ही मोक्षमार्ग मान लेता है परंतु वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है, वह तो भ्रम है। अरे! सम्यग्दर्शन और स्वानुभव के बिना मात्र शुभराग को मोक्षमार्ग मानना, वह तो वीतराग जैनधर्म की विराधना है। जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा मोक्षमार्ग नहीं कहा। जिनेन्द्र भगवान ने तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है जो कि स्वानुभवपूर्वक ही होता है, उसका प्रारंभ चौथे गुणस्थान से होता है।

(४३) **प्रश्न**—मोक्ष का राजमार्ग कैसा है ?

उत्तर—जिसप्रकार राजमार्ग के बीच में कंकड़-पत्थर या कांटे नहीं होते; उसीप्रकार

मोक्ष का यह सीधा-स्पष्ट राजमार्ग स्वानुभवरूप है, उसमें बीच में राग की रुचिरूप कांटे-कंकड़ नहीं हैं। (मिथ्यात्वादि शल्य अथवा रागरूप कंकड़ उसमें नहीं हैं।) संतों ने शुद्ध परिणतिरूप राजमार्ग पर चलकर मोक्ष की साधना की है, और वही मार्ग जगत को बतलाया है।

(४४) **प्रश्न**—यह राजमार्ग है तो दूसरा पगदंडी का मार्ग होगा न ?

उत्तर—पगदंडी वह कहीं राजमार्ग से विपरीत नहीं होती। राजमार्ग पूर्व की ओर जाता हो और पगदंडी पश्चिम दिशा जाती हो, ऐसा नहीं होता। भले ही पगदंडी हो परंतु उसकी दिशा तो राजमार्ग की ओर ही होगी। उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान के अलावा शुद्धोपयोगी चारित्रदशा तो मोक्ष का सीधा-राजमार्ग है, और ऐसी चारित्रदशा रहित जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वह अभी अपूर्ण मोक्षमार्ग होने से उसे पगदंडी कहा जाता है; वह एक-दो भव में मोक्षमार्ग पूर्ण करके मोक्ष को साधेगा। मोक्षमार्ग पूरा हो या अधूरा परंतु उन दोनों की दिशा तो स्वभाव की ओर ही है, राग की और एक की भी दिशा राग की ओर नहीं है। रागादिभाव तो मोक्षमार्ग से विपरीत हैं अर्थात् बंधमार्ग हैं। उस बंधमार्ग की पगदंडी पर चलकर कहीं मोक्ष में नहीं पहुँचा जा सकता।

(४५) **प्रश्न**—विग्रह गति का अर्थ क्या ? विग्रह गति में कौन सा उपयोग होता है ?

उत्तर—मृत्यु होने पर एक गति में से दूसरी गति में शरीर धारण करने के लिये जीव का गमन हो, उसे विग्रह गति कहते हैं। विग्रह अर्थात् शरीर, उसे ग्रहण करने की जो गति है, वह विग्रह गति है। विग्रह गति का अधिक से अधिक काल तीन समय का है। विग्रह गति के समय ज्ञान का या दर्शन का एक भी उपयोग नहीं होता; हाँ, वहाँ मात्र लब्धिरूप परिणमन होता है जो ज्ञान-दर्शन गुण का परिणमन है, उपयोग नहीं।

(४६) **प्रश्न**—विग्रह गति के समय मार्ग में कौन-कौन से गुणस्थान और कौन-कौन से ज्ञान संभव हैं ?

उत्तर—विग्रह गति के समय मार्ग में ४-२ अथवा पहला गुणस्थान संभव है; तीसरे गुणस्थान में किसी जीव के मरण नहीं है, इसलिये मार्ग में वह गुणस्थान नहीं होता। विग्रह गति में अज्ञानी को कुमति-कुश्रुत—यह दो और ज्ञानी को सम्यक् मति-श्रुत-अवधि यह तीन ज्ञान संभव हैं; परंतु वे लब्धिरूप होते हैं, उपयोगरूप नहीं होते।

(४७) **प्रश्न**—द्रव्य स्वभाव में विकार नहीं है तो विकार का कर्ता कौन है ?

उत्तर—जो विकारी क्षणिक पर्याय होती है, वह पर्याय धर्म ही विकार का कर्ता है; वह

पर्याय-धर्म क्षणिक (अनित्य) होने से दूर हो सकता है। द्रव्यधर्म को अर्थात् द्रव्यस्वभाव को देखें तो आत्मा में विकार का कर्तृत्व नहीं है। उस स्वभावोन्मुख पर्याय में से भी विकार का कर्तृत्व छूट गया है।

(४८) **प्रश्न**—विकार 'कर्म के लक्ष्य से' होता है, ऐसा बहुत बार कहा जाता है, किन्तु सूक्ष्म कर्म तो कुछ भी सामान्य जीव को दिखता नहीं तो उनके लक्ष्य से विकार होता है, ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—स्वभाव के लक्ष्य से विकार उत्पन्न नहीं होता, ऐसा समझाने के लिये यह कहा है। उसमें द्रव्यकर्म के लक्ष से अर्थात् 'कर्म के निमित्त के आश्रय से', ऐसा अर्थ समझना। स्वसन्मुख उपयोग द्वारा विकार उत्पन्न नहीं होता, विकार बाहर के ही आश्रय से होता है; इसलिये विकार कर्म के लक्ष्य से कहा है; क्योंकि दूसरी बाह्य वस्तु तो विकार के समय निमित्त हो या न हो, किंतु द्रव्यकर्म तो सदा नियम से निमित्तरूप होता ही है। वह ऐसा प्रसिद्ध करता है कि विकार स्वभावरूप भाव नहीं है किंतु विभावरूप है। कषाय, वह जीव का नित्य स्वभाव नहीं है-इस विषय में षट्खंडागम शास्त्र पुस्तक पाँचवाँ पृष्ठ २२३ में सरस युक्ति से समझाया गया है।

(४९) **प्रश्न**—एक समय की पर्याय का दूसरे समय व्यय होना अर्थात् क्या ?

उत्तर—पर्याय का स्वभाव ऐसा है कि उसका अस्तित्व एक समय ही रहे, दूसरे समय उसका अस्तित्व नहीं रहता; इसका नाम व्यय है। द्रव्य त्रैकालिक है, पर्याय एक समय की है, अर्थात् द्रव्य की दृष्टि से देखने पर वस्तु नित्य दिखाई देती है और पर्यायदृष्टि से देखने पर वस्तु अनित्य दिखाती है। इसप्रकार वस्तु अनेकांतस्वरूप है।

(५०) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन को सिद्धि का मूल क्यों कहा ? चारित्र को क्यों न कहा ?

उत्तर—चारित्र की तो अपार महिमा है, वह तो मोक्ष का साक्षात् कारण है। वह दशा तो बहुत वीतरागी और महा आनंदरूप है किंतु जिसको सम्यग्दर्शन हुआ हो, उसे ही ऐसी चारित्रदशा प्रगट होती है। प्रथम परिपूर्ण आत्मस्वभाव का स्वीकार सम्यग्दर्शन के द्वारा होता है; सम्यग्दर्शन के द्वारा आत्मस्वभाव का स्वीकार करने के पश्चात् ही उसमें लीनतारूप चारित्रदशा होती है; इसलिये सम्यग्दर्शन को सिद्धि का मूल कहा है। 'चारितं खलु धम्मो' अर्थात् कि चारित्र, वह साक्षात् धर्म है, परंतु साथ ही साथ 'दंसणमूलो धम्मो' अर्थात् उस धर्म

का मूल सम्यग्दर्शन है—यह भी नहीं भूलना चाहिये। ये दोनों वचन कुन्दकुन्दस्वामी के ही हैं। मूल में सम्यग्दर्शन न हो, वहाँ चारित्र की शाखायें फूटती नहीं और मोक्ष-फल पकता नहीं, इसलिये सम्यग्दर्शन मोक्ष का मूल है। और सम्यग्दर्शन के पश्चात् जब शुद्धोपयोगरूप चारित्रदशा प्रगट करे, तभी मुनिपना और मोक्षदशा प्रगट होती है - इसलिये चारित्र, वह साक्षात् धर्म है। इसप्रकार सम्यक्चारित्र और सम्यग्दर्शन इन दोनों की महिमा समझकर भक्तिपूर्वक उनकी आराधना का उद्यम करना। (क्रमशः)

वीतरागी मोक्षमार्ग की ललकार करते हुए संत कहते हैं कि अरे, राग को धर्म माननेवाले कायरों! तुम चैतन्य के वीतरागमार्ग में चल नहीं सकोगे। स्वाधीन चैतन्य का तुम्हारा पुरुषार्थ कहाँ चला गया? यदि तुम धर्म करना चाहते हो तो चैतन्य शक्ति की वीरता तुम्हारे में प्रगट करो। इस वीतरागी वीरता के द्वारा ही मोक्षमार्ग सधेगा।

वीतरागी संतों की ऐसी हाँक सुनके कौन न जागे?

संसार-समुद्र से पार होने की कला

जीव अन्य चाहे जितनी कलाओं में प्रवीण हो जाये, परंतु आत्मा के स्वानुभव की कला जब तक न सीखे, तब तक वह भव-समुद्र से पार नहीं हो सकता; स्वानुभव ही भवसमुद्र से तैरने की कला है; इस कला का जिसको ज्ञान न हो, वह यदि अन्य अनेक कलाओं में प्रवीण भी हो, तथापि संसार-समुद्र में डूबता ही है। जिसने केवल स्वानुभव कला का ज्ञान कर लिया हो, वह जीव भले ही अन्य एक भी कला का ज्ञाता न हो, तथापि वह संसार-समुद्र से पार हो जाता है। इसलिये संतों का उपदेश है कि हे जीवो! जो तुम इस संसार-समुद्र से पार होना चाहते हो तो अन्य सभी कलाओं का महत्व छोड़कर इस स्वानुभव-कला के महत्व को समझो और उसका पुरुषार्थ करो। स्वानुभव-कला की बात को स्पष्ट समझाने के लिये यहाँ नाविक और पंडित का दृष्टांत देकर समझाया है, वह कोई कटाक्ष नहीं है परंतु भवसमुद्र से तैरने की कला का स्वरूप स्पष्ट समझाने के लिये दृष्टांत है।

यह सम्यक्त्व एवं स्वानुभव की अति रसप्रद बात है.... इसको लक्ष में लेने से जन्म-मरण टल जाते हैं, ऐसी यह अलौकिक बात है। यह स्वानुभव की कला (विद्या) ही संसार-समुद्र से पार होने की कला है, इसके अलावा दूसरा कुछ पढ़ा हो तो भी अच्छा; न पढ़ा हो तो भी अच्छा। इस स्वानुभव कला को जो नहीं जानता, किंतु अन्य अनेक कलाओं का ज्ञाता हो, वह संसार-समुद्र से पार नहीं हो सकता। मोक्ष के लिये उसकी एक भी कला काम में नहीं आ सकती, परंतु जो स्वानुभव कला को जानता है, उसे भले ही अन्य कलाओं का कदाचित् ज्ञान न भी हो, तथापि स्वानुभव के बल से वह संसार से पार हो जायेगा और मोक्ष की साधना कर लेगा। स्वानुभव से उसे केवलज्ञान की ऐसी महाविद्या प्रगट होगी कि उसमें जगत की समस्त विद्याओं के ज्ञान का समावेश हो जाये। अरे, आयु अल्प, बुद्धि अल्प और श्रुत अपरम्पार! उसमें हे जीव! तुझे यही सीखने जैसा है, जिससे इस भव समुद्र से पार हुआ जा सके। अन्य इधर-धर की बातों में मग्न हुए बिना मूल प्रयोजनभूत इस बात का ज्ञान कर कि जिसका ज्ञान करने यह आत्मा भवसमुद्र से पार हो सके। इस संबंध में दृष्टांत—

एक वेदों के ज्ञाता विद्वाना नौका में बैठकर नदी पार कर रहे थे; नाविक के साथ चर्चा करते हुए पंडितजी ने नाविक से पूछा—क्यों नाविक! तुझे संगीत का ज्ञान है? नाविक ने कहा—नहीं महाराज! फिर थोड़ी दूर बाद पूछा—व्याकरण जानता है? ज्योतिष का ज्ञान है? गणित पढ़ा है? नाविक ने कहा—नहीं, पंडितजी! अंत में पंडित जी ने पूछा : भाई, कुछ लिखना-पढ़ना भी जानते हो? उत्तर में नाविक ने कहा—नहीं महाराज! हमारी तो यह नाव भली और यह नदी भली... हमें तो इस पानी में तैरना आता है। पंडितजी ने कहा—बस तब तो तेरा जीवन पानी में ही गया। मुझे तो न्याय-व्याकरण-संगीत-ज्योतिष इत्यादि सभी का ज्ञान है। नाविक ने कहा—बहुत... अच्छा... महाराज! हमें तो अपने काम से मतलब। अभी तो यह बात चल ही रही थी कि जोरदार आंधी आयी और नाव डगमगाने लगी। पानी की हिलोरों से नाव में पानी भरने लगा। नाव पानी में डूब जायेगी, ऐसा जानकर नाविक ने नाव में बैठे पंडितजी से पूछा कि शास्त्रीजी महाराज! आपको पानी में तैरना आता है या नहीं? यह सुनकर पंडितजी घबराये और बोले—नहीं भाई, सब कुछ आता है, लेकिन एक तैरना नहीं आता! नाविक ने कहा—पंडितजी, आपने सब कुछ सीखा लेकिन तैरना नहीं सीखा... यह नौका तो अब डूब जायेगी। मुझे तो तैरना आता है, इसलिये तैरकर किनारे पर पहुँच जाऊँगा... परंतु आप इस नौका के साथ डूब जायेंगे। आप और आपकी सब विद्याएँ पानी में जायेंगी.... यह तो एक दृष्टांत है। उसीप्रकार इस भव समुद्र से जिसे पार होना हो, उसे स्वानुभव की विद्या सीखना चाहिये। अन्य अप्रयोजनभूत जानकारी चाहे जितनी कर ले, परंतु अंतर में स्वभावभूत चैतन्यवस्तु क्या है, उसे लक्षगत न करे तो बाहर का ज्ञान (वेदाचार्य पंडितजी की भाँति) संसार से पार होने के लिये काम में नहीं आ सकता। जिसने बाह्य पदार्थों का महत्त्व छोड़कर अंतर में

चैतन्य विद्या की साधना की, उसको बाह्य विद्या की न्यूनता कदाचित् हो, तथापि (नाविक की भाँति) स्वानुभव की विद्या द्वारा वह भव-समुद्र से पार होकर त्रिलोक में सर्व श्रेष्ठ ऐसी केवलज्ञान-विद्या का अधिपति हो जायेगा।

अरे जीव, स्वानुभव की कला सिखानेवाले और संसार से पार उतारनेवाले संत-धर्मात्मा मिले हैं तो अब तेरे बाह्यज्ञान की चतुराई एक ओर रखकर स्वानुभव की कला का महत्व समझ ले। भाई, इसके बिना संसार का कहीं अंत नहीं आयेगा। इस स्वानुभव के समक्ष अन्य सब प्रकार की पढ़ाई व्यर्थ है। हजारों वर्ष तक शास्त्रों की पढ़ाई से भी एक क्षण के स्वानुभव का मूल्य अधिक है। इसलिये इसे तू जान। आत्मा के ज्ञान-ध्यान द्वारा धर्मी की शुद्धता बढ़ती जाती है और साथ में असंख्यात गुनी निर्जरा भी होती जाती है। बाह्य का ज्ञान चाहे बढ़े या न बढ़े परंतु अंतर में चैतन्य का अनुभव करनेवाले ज्ञान की शक्ति उसको बढ़ती जाती है, और आवरण शीघ्रता से दूर होता जाता है। एक क्षण के अनुभव से ज्ञानी के जो कर्म झरते हैं, उतने कर्म अज्ञानी को लाखों उपाय करने पर भी नहीं झरते। इसप्रकार सम्यक्त्व और स्वानुभव की अचिंत्य महिमा हे। ऐसा समझकर हे जीव! तू उसकी आराधना करने के लिये तैयार हो।

निरंजन भजने योग्य भावना

दुविधा कब जइए या मन की।
कब निज नाथ निरंजन निरखूं तज सेवा जन जन की, दुविधा ॥टेक॥
कब रुचिसौं पीवै दृगचातक, बूंद अक्षयपद घन की,
कब सुख लेऊँ भेद परमातम, मिटे धारणा धन की ॥१॥ दुविधा०
कब घट अंतर रहे निरंतर, दृढ़ता सुगुरु वचन की;
कब सुख ध्यान धरूँ परमातम, करूँ ना ममता तन की ॥२॥ दुविधा०
कब घर छाँड़ होऊं एकाकी, लिए लालसा बनकी;
ऐसी दशा कब हो बुधजन की, ऐसी दशा कब हो प्रभु हमकी;
बलि बलि जाऊं वा छिनकी ॥३॥
दुविधा कब जइए या मन की

साधक की विचारश्रेणी और स्वभाव का रंग
आध्यात्मिक नवधाभक्ति का सुंदर वर्णन

मोक्षसाधक धर्मात्मा की दशा कैसी होती है, उसकी विचारधारा कैसी अंतर्मुखी होती है, उसको चैतन्य का रंग कैसा होता है, और शुद्धात्मा के प्रति नवधाभक्ति कैसी होती है, उसे यहाँ संक्षेप में परंतु अत्यंत भावप्रेरक शैली से स्वामीजी समझाते हैं।

''जब ज्ञाता कदाचित् बंधपद्धति का विचार करे, तब वह जानता है कि इस बंधपद्धति से मेरा द्रव्य अनादिकाल से बंधरूप चला आ रहा है; अब इस पद्धति का मोह त्यागकर वर्त। इस बंध पद्धति का राग भूतकाल जैसा हे जीव! तू क्यों करता है? इसप्रकार वह क्षणमात्र भी बंध पद्धति में मग्न नहीं होता। वह ज्ञाता अपने स्वरूप का विचार, अनुभव, ध्यान, गान, श्रवण करता है, तथा नवधा भक्ति, तपक्रिया आदि अपने शुद्ध स्वरूप के सन्मुख होकर करता है—यह ज्ञाता का आचार है, इसी का नाम मिश्र व्यवहार है।''

देखो, यह साधक जीव का व्यवहार, और उसकी विचारश्रेणी! उसे स्वभाव का कितना रंग है? हर समय उसी का विचार, उसी का मनन, उसी का ध्यान-अनुभव का अभ्यास, उसी का गुणगान और उसी का श्रवण, सभी प्रकार से उसी की भक्ति करता है; जिस किसी भी क्रिया में लगे, उसमें सर्वत्र शुद्ध-स्वरूप की सन्मुखता मुख्य रहती है। उसके विचारों में भी स्वरूप की मुख्यता है, इसी से कहा है कि ''ज्ञाता 'कदाचित' बंधपद्धति को विचार करे''.....तब भी वह बंधपद्धति में मग्न नहीं होता, परंतु उससे मुक्त होने का ही विचार करता है। अज्ञानी तो सब कुछ राग की मुख्यतापूर्वक करता है, शुद्धस्वरूप की सन्मुखता उसे नहीं है। वह कर्म बंधनादि के विचार करे तो उन्हीं में लीन हो जाता है और इस कारण से आध्यात्म तो एक ओर अर्थात् पृथक् ही रह जाता है। अरे भाई, ऐसी बंधपद्धति में तो तू अनादिकाल से लीन हो रहा है.... अब तो उसका मोह छोड़। अनादि से उस पद्धति द्वारा तेरा किंचित् भी हित नहीं हुआ; इसलिये उसका मोह त्याग कर अब तो आध्यात्मपद्धति धारण

कर! ज्ञानियों ने तो उसका मोह पृथक् कर ही दिया है और आध्यात्मपद्धति प्रगट कर ली है, परंतु अभी राग की कुछ परंपरा शेष रह गई है, उसे आध्यात्म की उग्रता द्वारा छेदना चाहते हैं; इसलिये राग की पद्धति में एक क्षण भी लीन नहीं होते।—देखो, यह मोक्षसाधक की दशा! निजशुद्धात्म तत्त्व की रुचि होते ही जगत की सब रुचि नष्ट हो जाती है। शुद्धात्मारूप समयसार की रुचि जहाँ उत्पन्न हुई वहाँ, आस्रवतत्त्व की परभाव की रुचि नहीं रहती; अरे, समस्त जगत की रुचि दूर हो जाती है। जिसको अंशमात्र भी राग की रुचि रहती है, उसके परिणाम चैतन्य की ओर नहीं लग सकते, और वह मोक्षमार्ग की साधना नहीं कर सकता।

राग की रुचि छोड़कर धर्मी जीव चैतन्य के प्रेम में ऐसा निमग्न है कि बारम्बार उसी के स्वरूप का विचार करता है, उपयोग को बार-बार आत्मा की ओर ले जाता है, कभी-कभी निर्विकल्प अनुभव भी करता है, एकाग्रता से उसे ध्याता है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो'—इसप्रकार सिद्ध के समान निजस्वरूप का अनुभव करता है; उसकी बात सुनते हुए उत्साहित हो जाता है, उसकी महिमा गाता हुआ हर्षित होता है। अहा, मेरी चैतन्यवस्तु अचिंत्य महिमावंत, उसके समीप रागादि परभाव तो अवस्तु है,—इस अवस्तु की रुचि कौन करे? इसकी महिमा, इसका गुणगान कौन करे? सम्यग्दृष्टि तो अपने शुद्धस्वरूप की नवधाभक्ति करता है; अथवा मुनिराज की नवधाभक्ति करे तो उसमें भी शुद्धस्वरूप की सन्मुखता है। इस वचनिका के लेखक पंडित बनारसीदासजी ने 'समयसार-नाटक' में, ज्ञानी कैसी नवधाभक्ति करता है उसका सुंदर वर्णन किया है:—

❀ आध्यात्मिक नवधाभक्ति ❀

श्रवण कीरतन चिंतवन सेवन वंदन ध्यान।
लघुता समता एकता नौधा भक्ति प्रवान॥८॥ (मोक्ष द्वार)

(१) श्रवण—उपादेयरूप अपने शुद्धस्वरूप के गुणों का प्रेम पूर्वक श्रवण करना, वह एक प्रकार की भक्ति है। जिसे जिसके प्रति भक्ति हो, उसे उसका गुणगान सुनकर प्रमोद आता है; धर्मी को निजस्वरूप का गुणगान सुनते हुए प्रमोद आता है।

(२) कीर्तन— चैतन्य के गुणों का, उसकी शक्तियों का वर्णन करना, महिमा करना, यह उसका कीर्तन है।

(३) चिंतन—जिसके प्रति भक्ति हो, उसके गुणों का बार-बार विचार करता है।

धर्मी जीव निजस्वरूप के गुणों का बार-बार विचार करता है। यह भी स्वरूप की भक्ति का प्रकार है।

(४) सेवन—अंतर में निजगुणों का बार-बार अध्ययन करना।

(५) वंदन—महापुरुषों के चरणों में जिसप्रकार भक्ति से वंदन किया जाता है, उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप में परम भक्तिपूर्वक वंदन-मनन-उसमें लीन होकर परिणमन करना, यह सम्यग्दृष्टि की आत्मभक्ति है।

(६) ध्यान—जिसके प्रति परम भक्ति हो, उसका बारम्बार ध्यान आता रहता है; उसके गुणों का विचार, उपकारों का विचार बार-बार आता है; उसीप्रकार धर्मी जीव अत्यंत भक्तिपूर्वक बारम्बार निजस्वरूप के ध्यान में प्रवर्तता है। कोई ऐसा कहे कि हमको निजस्वरूप के प्रति तो प्रीति और भक्ति तो बहुत है, परंतु उसके विचार में और ध्यान में हमारा मन किंचित् भी नहीं लगता—तो उसकी बात झूठी है। जिसकी सच्ची प्रीति है, उसके विचार में, चिंतन में मन न लगे—ऐसा नहीं हो सकता। अन्य विचारों में तो तेरा मन लगता है, और यहाँ स्वरूप के विचार में मन नहीं लगता, इससे तो तेरे परिणामों का माप निकलता है कि स्वरूप से अधिक तुझे अन्य पदार्थों का प्रेम है। जिसप्रकार घर के व्यक्ति का खाने-पीने में, बोलने-चालने में कहीं भी मन न लगे तो लोग ऐसा अनुमान कर लेते हैं कि इसका मन कहीं अन्य स्थान पर लगा हुआ है; उसीप्रकार चैतन्य में जिसका मन लगे, उसका सच्चा प्रेम जिसको जाग उठे-प्रगट हो उसका मन जगत के सभी विषयों से उदासीन हो जाता है... और बारम्बार निजस्वरूप की ओर उसका उपयोग जाता है। इसप्रकार स्वरूप के ध्यानरूप भक्ति सम्यग्दृष्टि को होती है तथा ऐसे शुद्धस्वरूप की साधना करनेवाले पंच परमेष्ठी इत्यादि के गुणों का भी वह परमभक्ति से स्मरण करता है।

(७) लघुता—पंच परमेष्ठी इत्यादि महापुरुषों के समक्ष धर्मी जीव को अपनी अत्यंत लघुता प्रतीत होती है। अहा! कहाँ इनकी दशा और कहाँ मेरी अल्पता! अथवा सम्यग्दर्शनादि और अवधिज्ञानादि हुए हैं, फिर भी केवलज्ञानादि अपार गुणों के निकट तो अभी अत्यंत लघुता है—इसप्रकार धर्मी को अपनी पर्याय में लघुता प्रतीत होती है। पूर्णता का भान है, इसलिये लघुता भासित होती है। जिसे पूर्णता का भान नहीं है, उसे अल्पता में भी अधिकता प्रतीत होती है।

(८) समता—

'सर्व जीव है ज्ञानमय ऐसा जो समभाव,
वह सामायिक जिन कहे प्रगट ग्रहे भवपार'

सभी जीवों को शुद्धस्वभाव से समान देखना, उसका नाम समता है। भेदज्ञानमय परिणामों को चैतन्य में एकाग्र करने से समताभाव प्रगट होता है। जिसप्रकार महापुरुषों के निकट क्रोधादि विषमभाव उत्पन्न नहीं होते—ऐसी उसप्रकार की भक्ति है; उसीप्रकार चैतन्य के साधक जीव को क्रोधादि उपशांत होकर अपूर्व समता प्रगट होती है। वह भी समतारूपी भक्ति है।

(९) एकता—मात्र आत्मा को ही अपना मानना, शरीरादि को पर मानना; रागादि भावों को भी स्वरूप से पर मानना, और अंतर्मुख होकर स्वरूप के साथ एकता करना—ऐसी एकता, वह अभेद भक्ति है, और वह मुक्ति का कारण है। स्व में एकतारूपी ऐसी भक्ति केवल सम्यग्दृष्टि को ही होती है।

वाह! देखो यह सम्यग्दृष्टि की नवधाभक्ति! शुद्ध आत्मस्वरूप का श्रवण, कीर्तन, चिंतन, सेवन, वंदन, ध्यान, लघुता, समता और एकता—ऐसी नवधाभक्ति द्वारा वह मोक्षमार्ग की साधना करता है।

प्रश्न—ज्ञानी नवधाभक्ति करता है, यह तो बताया; परंतु ज्ञानी क्या तप भी करता है?

उत्तर—हाँ, ज्ञानी तप भी करता है, परंतु किसप्रकार? अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होकर वह तप आदि क्रिया भी करता है।-यह ज्ञानी का आचार है। ज्ञानी के ऐसे अंतरंग आचार को अज्ञानी नहीं जानता; वह तो एकमात्र देह की क्रिया को ही देखता है। शुद्धस्वरूप की सन्मुखता से जितनी शुद्धपरिणति हुई, उतना तप है - ऐसा धर्मी मानता है। ऐसा तप अज्ञानी को नहीं होता और उसे वह जानता भी नहीं। तप आदि का शुभराग तो बाह्य निमित्त है, और देह की क्रिया तो आत्मा से अत्यंत पृथक् वस्तु है, परंतु फिर भी अज्ञानी उस क्रिया को ही मूलवस्तु मान लेता है, और यथार्थ मूलवस्तु को भूल जाता है। शुभराग और साथ में भूमिकायोग्य शुद्ध परिणति, वह ज्ञानी का ही आचार है, उसका नाम मिश्रव्यवहार है। मिश्र अर्थात् कुछ अशुद्धता और कुछ शुद्धता; इसमें जो अशुद्ध अंश है, वह धर्मी को आस्रव-बंध का कारण है और जो शुद्ध अंश है, वह संवर-निर्जरा का कारण है।—इसप्रकार आस्रव-बंध और संवर-निर्जरा, यह चारों

भाव धर्मी को एकसाथ रहते हैं। अज्ञानी को मिश्रभाव नहीं होता, उसे तो केवल अशुद्धता ही होती है; सर्वज्ञ को मिश्रभाव नहीं होता, उन्हें तो केवल शुद्धता ही होती है। मिश्रभाव साधकदशा में होता है, उसमें शुद्ध परिणति के अनुसार वह मोक्षमार्ग की साधना करता है–ऐसा जानना।

अहा, धर्मात्मा की यह आध्यात्म कला... अलौकिक है... ऐसी आध्यात्म कला सीखने जैसी है, और इसका प्रचार करने जैसा है। वास्तविक सुख तो आध्यात्म कला के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। धर्म में आध्यात्मविद्या के अलावा अन्य लौकिक विद्याओं का कुछ भी मूल्य नहीं है। **सा विद्या या विमुक्तये**—आत्मा को मोक्ष का कारण नहीं बन सके, ऐसी विद्या को विद्या कौन कहेगा ?—वही कहेगा जो विद्याहीन है।

जिसने आध्यात्मविद्या जानी है—ऐसे ज्ञानी को मिश्रव्यवहार कहा, अर्थात् शुद्धता और अशुद्धता दोनों एकसाथ उसको हैं परंतु दोनों एक साथ होने पर भी शुद्धता–अशुद्धता एक–दूसरे में मिल नहीं जाती। जो शुद्धता है, वह अशुद्धरूप नहीं होती और जो अशुद्धता (रागादिभाव) है, वह शुद्धरूप नहीं होता। एक साथ होने पर भी दोनों की पृथक्–पृथक् धाराएँ हैं। इसप्रकार 'मिश्र' दोनों की पृथक्ता बतलाते हैं, एकता नहीं। इसमें जो शुद्धता है, उससे धर्मी जीव मोक्षमार्ग साधता है, और जो अशुद्धता है, उसको वह हेय समझता है।

तीव्र गर्मी के समय अमृत की वृष्टि

कार्तिक कृष्णा सप्तमी को यह प्रवचन हो रहा था। गुरुदेव वैराग्य के अमृत की वर्षा कर रहे थे; अति गरमी थी; उस समय अचानक धधकती धूप में मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो गई; और तुरंत गुरुदेव ने कहा : अरे, सातवीं नरक की धधकती पीड़ा के मध्य रहा हुआ जीव वहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और उसके आत्मा में अमृत की वर्षा होती है। सातवीं नरक की प्रतिकूलता की ज्वाला में भी अंतर्दृष्टि द्वारा चैतन्य के शीतल–शांत अमृत का पान करता है। संयोगों में से दृष्टि को हटाकर नित्यस्वभाव में दृष्टि लगाने से आत्मा में परम–आनंद की वर्षा होती है और अनादि मोह का तीव्र आताप दूर होकर परम शीतलता का अनुभव होता है।

गाढ़ा-पक्का भेदज्ञान

[और अमृत की वृष्टि]

(कलश-टीका-प्रवचन : कलश २०३)

देहादि का और जड़ कर्म का कर्ता जीव नहीं है, और जीव की पर्याय में अशुद्ध-चेतनारूप जो राग-द्वेष होते हैं, वह जड़ का कार्य नहीं है, परंतु जीव अकेला ही व्याप्य-व्यापक भाव से उनको करता है। जीव के अशुद्ध परिणाम में पुद्गल का व्याप्य-व्यापकपना नहीं है, और पुद्गल के कार्यों में जीव का व्याप्य-व्यापकपना नहीं है, अर्थात् जीव और अजीव में एकरूपता नहीं है, सदा अत्यंत भिन्नता है।

जीव और अजीव दोनों एक होकर राग-द्वेष करते हैं, ऐसा भी नहीं। रागादि अशुद्ध परिणामों को भी जीव अकेला ही करता है और उनके फलरूप दुःख को भी जीव अकेला ही भोगता है। बाहर के संयोगों को कोई भी जीव नहीं भोगता। पुद्गल में किसी भी प्रकार का सुख-दुःख नहीं है। अज्ञानी जीव मोह के वश होकर संयोगों में सुख-दुःख मानता है।

अरे जीव! तू देह में सुख मानकर और देह की प्रतिकूलता में दुःख मानकर सो रहा है परंतु सुन! तेरा तत्त्व देह से भिन्न है, तेरा सुख-दुःख देह में नहीं है। देह से तू अत्यंत भिन्न है।

एक आदमी समा जाये इतनी लम्बी-चौड़ी लोहे की कोठी हो; हवा अंदर जाने के लिये एक छिद्र भी न हो, एक छोटे-से राजकुमार को उसमें उतारकर, कोठी बंद करके उसके चारों ओर अग्नि जला दी जाये, उसमें सिकते हुए राजकुमार को जो दुःख होता है, वह शरीर के कारण से नहीं, अग्नि के कारण से नहीं, परंतु अंतर के कषायरूपी अग्नि का दुःख है। उस कोठी में बंद राजकुमार से भी अनंत गुना प्रतिकूल संयोग प्रथम नरक में कम से कम (१०,०००) वर्ष की आयुष्य वाले जीव को है; फिर भी वहाँ संयोग का दुःख नहीं है। वहाँ भी कोई जीव देह से पार चिदानंद तत्त्व की अनुभूति प्रगट करके परम आनंद का आस्वाद लेते हैं—ऐसे असंख्यात जीव प्रथम नरक में निवास करते हैं, सातवीं नरक में असंख्य जीव सम्यग्दृष्टि हैं, शरीर का दुःख किसी को नहीं।

अब इसीप्रकार कोई जीव उत्तम मिष्ठान्न खाकर, आम का रस या गुलाबजामुन खाकर, कोमल शय्या में शीतल वायु प्रवाह में शयन कर रहा हो, इंद्राणी जैसी स्त्री (पत्नी) पंखा कर रही हो, तथापि उस जीव को शरीर के संयोगों से किंचित् भी सुख नहीं; वह भी मोह के कारण

दु:खी ही है। अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों से कोई भी जीव सुखी-दु:खी है ही नहीं। अपनी अशुद्ध चेतनारूपी राग-द्वेष के कारण ही जीव दु:खी है। शुद्धस्वभावी भगवान अपने को भूलकर भव में भटक रहा है। दस हजार वर्ष से प्रारम्भ करके एक-एक समय की वृद्धि होते होते तैतीस सागरोपम के असंख्यात वर्षों तक असंख्य प्रकार की स्थिति के असंख्य भव और एक-एक भव में जीव अनंत-अनंत बार उत्पन्न हो चुका है। अनंत गुण से परिपूर्ण भगवान, प्रत्येक गति में अनंत भव कर चुका है। अरे जीव! तू अपना भगवान पद तो भूल गया, और तूने जो भव किये, उनको भी तू भूल गया। दस हजार वर्ष, फिर एक समय वृद्धि, फिर दो समय वृद्धि - इसप्रकार वृद्धि होते-होते सातवीं नरक का ३३ सागरोपम का आयुष्य, इनके बीच में जितने भव हुए - वह असंख्यात भव, उस प्रत्येक भव में जीव अनंत बार उत्पन्न हो चुका है, और अनंती प्रतिकूलता में होकर ज्यों का त्यों सही सलामत निकल आया; और इसीप्रकार स्वर्ग की अनुकूलता के भव भी दस हजार वर्ष से लेकर ३१ सागरोपम तक की स्थिति के अनंत बार किये, फिर भी नरक के संयोगों का दु:ख नहीं है और स्वर्ग के संयोगों का सुख नहीं। राग-द्वेष भाव को अकेला ही अज्ञानता से करता हुआ मोह के कारण अज्ञानी जीव दु:खी है।

तेरे अशुद्ध परिणामों का कर्ता तू है; और भेदज्ञान के द्वारा यह कर्तापन छूट सकता है। इसलिये पर से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लेकर अत्यंत गाढ़-पक्का भेदज्ञान कर। अनादि से पर के साथ जो गाढ़ एकत्वबुद्धि है, उसको गाढ़ भेदज्ञान द्वारा दूर कर... अनेक-अनेक प्रकार से भेदज्ञान का अभ्यास करके दृढ़-पक्का-गाढ़ भेदज्ञान कर। कहीं भी पर के साथ एकत्वबुद्धि अंशमात्र भी न रहे और ज्ञान के साथ रागादि की भी अंशमात्र एकत्वबुद्धि न रहे - ऐसा स्पष्ट भेदज्ञान करके अपने भिन्न ज्ञानस्वभाव का अनुभव कर, इसके अनुभव से तेरा यह दु:खदायी भवभ्रमण दूर होगा और आत्मा में शीतल अतीन्द्रिय आनंदरस की धारा प्रवाहित होगी।

मंगल भावना

यह आत्मा कहीं भी मोह के बंधन में नहीं बँधे... और चैतन्य के प्रेम के बल से मोह बंधन की बेड़ी को तोड़कर मोक्ष के पंथ पर प्रयाण करे, ऐसी मंगल-भावना और मंगल प्रार्थना पूर्वक देव-गुरु की मंगल छाया में नूतन वर्ष का मंगल प्रारम्भ होता है।

वचनामृत

❀ ज्ञान दु:ख का कारण नहीं है, संयोग दु:ख का कारण नहीं, हम पराश्रय कर झूठी गिनती करते हैं, वह पर को इष्ट अनिष्ट माननेरूप दु:ख और दु:ख का कारण है।

❀ संसार परिभ्रमण का मूल कारण पुण्य-पाप के प्रति अनुराग है।

❀ शुभ निमित्त इस जीव को मिल्यो कई भवसार।
पै इक सम्यक्दर्श-बिन भटकत फिर्‌यो गंवार॥

❀ बहुतों से मिलना, बहुतों के साथ स्नेह, पर के पीछे पड़ना दु:ख का सेवन है।

❀ जगत को राजी करने, जगत से राजी होने के लिये इस जीव ने अनंत भव बिगाड़े। अपना हित न किया, यदि एक भव-इस ही भव आत्मा को अपना हित करने में लगावे तो अनंत भव का अंत करनेवाला, साक्षात् निजपरमात्मा का अनुपम आनंद लेनेवाला यह जन्म सफल सार्थक होगा ही होगा।

❀ सब अवसर आ चुके हैं। परद्रव्य-परक्षेत्र परकाल-परभाव के सामने ताकना पर के भरोसे अपने को भूल रहा है, अनुकूल सामग्री की आशा है, उसी समय किसी को प्रतिकूल मानकर उसका भय-अरति है—पराये मुँह के सामने ताकता रहता है, यह निज अमाप शक्तिरूप स्वभाव की सामर्थ्यता मिथ्यात्वरागादि विभाव की विपरीतता-पर से पृथक्त्व-स्वरूप से पूर्ण एकत्व की दृढ़ता, श्रद्धा भावना कैसे कर सकता है ?

❀ मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। निमित्त चाहिये, राग चाहिये, पुण्योदय चाहिये ऐसा माननेवालों को आत्मतिरस्कारी भावना है, आस्रवतत्त्व की रुचि है।

❀ राग करनेयोग्य है, उसे राग की रुचि है ही। उसी समय ज्ञातास्वभाव की अरुचिरूप अनंतानुबंधी द्वेष भी विद्यमान है। सम्यक् भेदविज्ञान के अभ्यास किये बिना यह सबसे बड़ा पाप कभी मिटनेवाला नहीं।

द्रव्य-गुण-पर्याय

द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान से भेदज्ञान और सुख

❀ अपने द्रव्य को अपने गुण-पर्याय सहित जानो।

❀ दूसरे द्रव्य को दूसरे के गुण-पर्याय सहित जानो।

❀ परंतु एक द्रव्य को दूसरे के गुण-पर्याय सहित न जानो।

❀ जगत के दूसरे पदार्थ उनके अपने गुण-पर्याय सहित हैं, परंतु उनके गुण-पर्याय का तेरे साथ किंचित् मात्र भी संबंध नहीं है।

❀ तेरे गुण-पर्याय तुझमें है, उनका संबंध दूसरों के साथ नहीं है।

❀ इसप्रकार स्व-पर के द्रव्य-गुण-पर्याय को भिन्न-भिन्न जानकर भेदज्ञान करना चाहिये।

❀ कर्म के गुण-पर्याय को पुद्गल के जान, और आत्मा के गुण-पर्याय को आत्मा के मान।

❀ जिस पदार्थ का ज्ञान करना हो, वह पदार्थ उसके गुण-पर्याय से ही पहिचाना जाता है, परंतु एक पदार्थ के गुण-पर्याय द्वारा दूसरे पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।

❀ ऐसे भिन्न गुण-पर्यायों का निर्णय करने से, मेरे गुण-पर्याय मेरे द्रव्य में ही रहते हैं-ऐसा निश्चय हो जाता है। इसलिये पर के साथ एकत्वबुद्धि की मान्यता छिन्न-भिन्न होकर अपने द्रव्य पर लक्ष जाता है, वहाँ सुख पर्याय प्रगट होती है।

❀ इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान से सुख उत्पन्न होता है।

❀ जीव-अजीव के भेद का ज्ञान वही है ज्ञान, मोक्षार्थे हे योगीजन, निश्चय से तू जान।

(योगीन्द्रदेव)

आपके चरणों में ही सदा रहें...

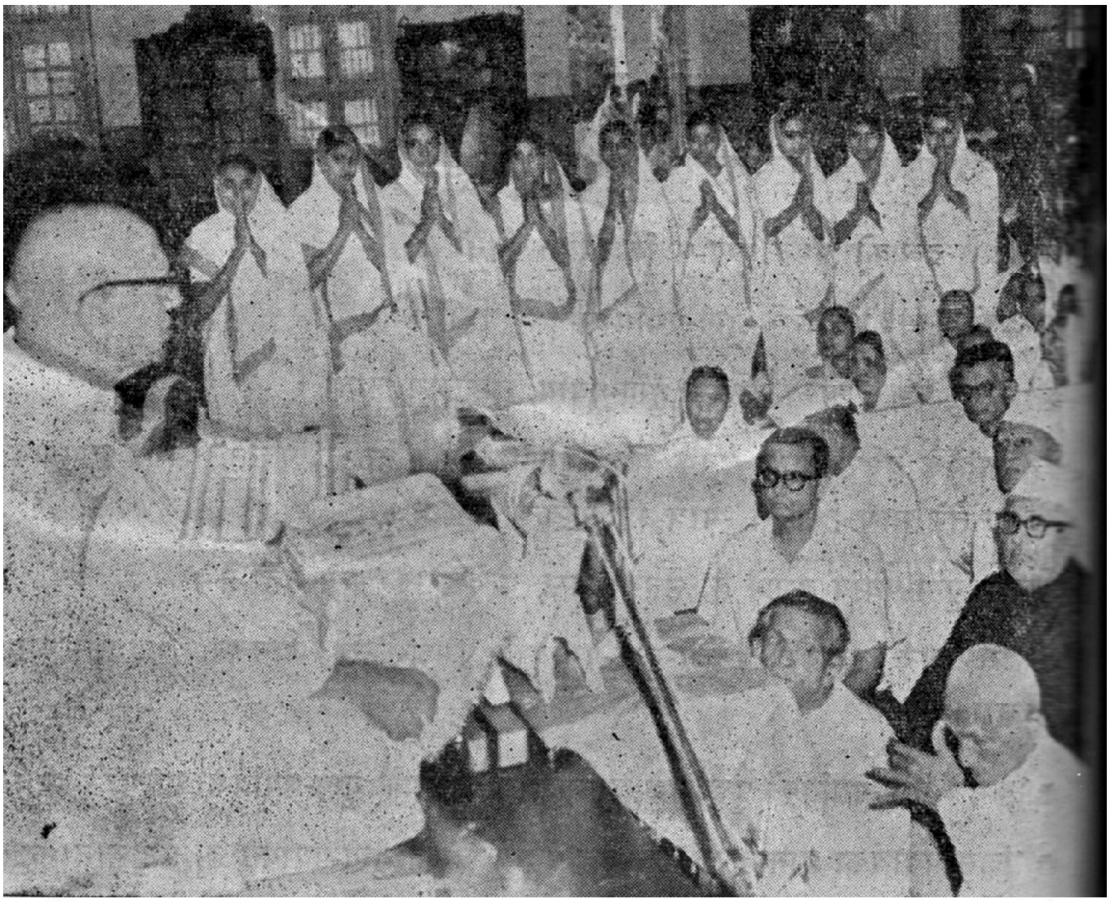

ज्ञानी-संतों की शीतल छाया में आत्महित साधने के प्रयत्न में हमारा जीवन बीते... व आपके प्रताप से हम इस भव-भ्रमण से छूटकर आत्म सुख को प्राप्त करें, ऐसी भावना पूर्वक नौ कुमारिका बहिनें पूज्य गुरुदेव के समक्ष ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार कर रही हैं - उस समय का भावभीना दृश्य।

सोनगढ़ वीर सं० २४९३ भाद्र बदी १

नौ कुमारिका बहिनों द्वारा ग्रहण की हुई
ब्रह्मचर्य की दीक्षा

साधर्मियों को चौथी बार आनंद समाचार देते हर्ष होता है कि – गुजराती श्रावण बदी १ (अर्थात् हिन्दी में भाद्र-बदी १) रविवार के शुभ दिन सोनगढ़ में पूज्य गुरुदेव की मंगल छाया में एक साथ नौ कुमारिका बहिनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा अंगीकार की है—

(१) इंदिरा बहिन (वर्ष ३०) नवलचंदजी खेमचंदजी की सुपुत्री, मोरबी (सौराष्ट्र)

(२) हंसाबहिन बी.एस.सी (वर्ष २५) केशवलाल महीजीभाई की सुपुत्री, जलगाँव, (खानदेश, महाराष्ट्र)

(३) सुरेखा बहिन (वर्ष २३) केशवलाल महीजी भाई की सुपुत्री, जलगौव (खानदेश, महाराष्ट्र)

(४) रमा बहिन (वर्ष २३) मोतीलाल सुंदरजी की सुपुत्री-दादर-मुम्बई

(५) मैना बहिन (वर्ष २२) खेमराज कँवरलालजी की सुपुत्री-खैरागढ़ (म.प्र.)

(६) सुशीला बहिन (वर्ष २३) नत्थू शा बालचंद शा की सुपुत्री-मलकापुर (महाराष्ट्र)

(७) निर्मला बहिन (वर्ष २४) रतनलाल शा पन्नालाल शा. की सुपुत्री-मलकापुर (महाराष्ट्र)

(८) विमला बहिन (वर्ष २३) पूनमचंद सा भीकू सा. की सुपुत्री-मलकापुर (महाराष्ट्र)

(९) विमला बहिन (वर्ष २२) लालचंदजी पूजैन सिंघई की सुपुत्री-जबलपुर (म.प्र.)

यह सभी बहिने सुशिक्षित और प्रतिष्ठा संपन्न कुटुंब की हैं, बालब्रह्मचारी हैं और लम्बे अर्से से सोनगढ़ में रहकर पूज्य स्वामीजी के सदुपदेश से तथा पूज्य बेनश्री-बेन की मंगल छाया में तत्त्वज्ञान का अभ्यास तथा वैराग्य का सिंचन किया है। जब से इन बहिनों की प्रतिज्ञा का प्रोग्राम निश्चित हुआ, तभी से सोनगढ़ में उत्साहपूर्ण वातावरण छा गया था।

भादों बदी १ के दिन सुबह ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा लेनेवाली बहिनों की ओर से जिनमंदिर में

सामूहिक पूजन हुआ था। तत्पश्चात् बहिनों के हाथ में जिनवाणी सहित जुलूस निकला था, और शहर में घूमकर प्रवचन मंडप में आया था। पन्द्रह सौ मानव भेदिनी के बीच पूज्य स्वामीजी का सारगर्भित प्रवचन हुआ—जिसमें अनंत सिद्ध और सर्वज्ञ भगवान के आदररूप अपूर्व मंगल का स्वरूप समझाया। तत्पश्चात् एकसाथ नौ कुमारिका बहिनें ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेने के लिये खड़ी हुईं। एक साथ नौ वीर बालिकाऐं आत्महित के पंथ से प्रयाण करने के लिये तत्पर हुईं—यह दृश्य वैराग्यप्रेरक था। जीवन में क्वचित् ही देखने को मिलनेवाला वैराग्य का ऐसा उत्सव देखकर मुमुक्षुओं को आनंद होता था। ये सभी बहिनें अनेक वर्षों से पूज्य स्वामीजी के अध्यात्मरस से ओत-प्रोत उपदेशों का लाभ लेकर सत्समागम में तत्त्व का अभ्यास कर रही हैं; और पूज्य बेनश्री-बेन की वात्सल्यमयी छाया में ज्ञान और वैराग्य का पोषण करती हैं। आत्मकल्याण की भावना प्रबल होने पर उन्हें ऐसा लगा कि हमारा जीवन तो संतों की छाया में, आत्महित की साधना में ही बीते। ऐसी उत्तम भावना की अपना संपूर्ण जीवन उन्होंने सत्समागम के लिये अर्पण किया और छोटी उम्र में ही आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ली। इस प्रशंसनीय कार्य के लिये सभी बहिनों को धन्यवाद! इस शुभकार्य में अनुमति देनेवाले सभी-बहिनों के माता-पिता और कुटुंबीजनों को भी धन्यवाद! आज अपनी साधर्मी बहिनें जीवन के नूतन पंथ से प्रयाण करने के लिये वैराग्यभाव से जो कदम रख रही हैं—जिस आत्महित के ध्येयपूर्वक मंगलमार्ग से प्रस्थान कर रही हैं, उस जीवनध्येय में संतों की सेवा के प्रताप से वे शीघ्र सफलता प्राप्त करो, ऐसी इच्छा करते हैं।

आज पूज्य स्वामीजी के महान पुण्य प्रताप से शासन प्रभावना दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है; जिज्ञासु जीव जागृत हो रहे हैं... और स्वामीजी के अध्यात्मरस-प्रेरक उपदेश से प्रभावित हो अनेक जीव 'संतों की शीतल छाया' में आत्महित का उद्यम कर रहे हैं। इसी उद्देश्य से एक साथ नौ-नौ कुमारिका बहिनों के आजीवन ब्रह्मचर्य के प्रसंग बन रहे हैं। बाल ब्रह्मचारिणी बहिनों की कुल संख्या पचास के लगभग है। आजीवन ब्रह्मचर्य से रहने के बाद जिस उद्देश्य से और लक्ष से यह कार्य करने में आता है, उस उद्देश्य की और लक्ष्य की खास महत्ता है; और उसमें भी ज्ञानियों के सत्संग के साक्षात् योग में रहकर यह सब कुछ होता है, वह सबसे बड़ी विशेषता है।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा के समय एक न्याय से दीक्षा महोत्सव जैसा उत्साहकारी वातावरण

नजर में आ रहा था, उन सभी बहिनों के कुटुंब परिवार के लोग इस अवसर पर सोनगढ़ में आये, स्थान-स्थान पर सुशोभित मंडप बंधाये थे। ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार करने के लिये एक साथ नौ वीर बालाएँ जब श्री कानजीस्वामी (गुरुदेव) के समक्ष खड़ी हुईं, उस समय का दृश्य पवित्र धर्म प्रभावक और वैराग्य-प्रेरक था। ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा देते समय स्वामीजी ने कहा कि **छोटी उम्र में ये पुत्रियाँ आजीवन ब्रह्मचर्य अंगीकार करती हैं, यह उत्तम कार्य है। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वज्ञान के अभ्यास पूर्वक वे प्रतिज्ञा धारण कर रही हैं।** यहाँ दो बहिनों (बहिन श्री बहिन) की उनको संगति है। इस कारण ५० ब्रह्मचारी बहिनों की संख्या हुई, ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा समय पर सभी ने हर्ष से अनुमोदन की, तथा संस्था की ओर से प्रत्येक ब्र० बहिनों को अभिनंदन सहिन चाँदी का ग्लास तथा साड़ी, पूज्य बहिन श्री बहिन के सुहस्त द्वारा भेंट दिया गया। अन्य धर्म प्रेमी द्वारा अनेक भेंट स्वरूप रकम और हार्दिक अभिनंदन का कार्यक्रम हुआ। भारत के धार्मिक इतिहास में विरल ऐसी ब्रह्मचर्य दीक्षा के ऐसे पवित्र प्रसंग गुरुदेव के प्रताप से बारंबार बनते रहते हैं। विषय कषायों से भरे हुए इस कलिका में पचास जितनी कुमारिका बहिनों की आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा के प्रसंग संसार के मोहीजनों को चुनौती दे रहे हैं कि अरे... जीवों! सुख तो अपनी आत्मा में ही है, सुख विषयों में नहीं है। सुख की प्राप्ति तो अध्यात्म-जीवन में है.. सुख के लिये विषयों को ठुकराकर ज्ञानी-संत की पवित्र छाया में आकर आत्मसाधना में जीवन को लगावें।

इन सभी बहिनों ने आत्महित के लिये अपना जीवन समर्पण करने का जो साहस प्राप्त किया है, उसमें पूज्य स्वामीजी के वैराग्य-रसपूर्ण आत्मस्पर्शी उपदेशों का मुख्य प्रभाव तो है ही; तदुपरांत पूज्य दो पवित्र बहिनों की शीतल छाया और वात्सल्यपूर्ण स्नेह ने इन बहिनों के जीवन में यह सामर्थ्य प्रदान किया है। पूज्य बेनश्री चंपाबहिन और पूज्य बेनश्री शांता बहिन इन दोनों धर्ममाताओं का धर्म के रंग से रंगा हुआ सहज जीवन तो प्रत्यक्ष आँखों से देखने पर ही जिज्ञासुओं को ख्याल में आ सकता है। इन दोनों बहिनों की पवित्रता, अनुभव, संस्कार, वैराग्य, उसीप्रकार देव-गुरु-धर्म की अपार भक्ति, अर्पणता, विनय और वात्सल्य यह सभी गुण मुमुक्षु को आनंद उपजानेवाले हैं। उनकी कृपा के कारण ही छोटी उम्र की बालिकाएँ माता-पिता को छोड़ने की ऐसी हिम्मत कर सकी हैं। वह अपरिमित वात्सल्यपूर्वक जीवन में निरंतर ज्ञान-वैराग्य का सिंचन कर रही हैं। इसप्रकार उनके जीवन में पूज्य धर्म-माताओं का

भी महान उपकार है। उनका आदर्श जीवन सहज ही ज्ञानवैराग्य की प्रेरणा करता है।

उपस्थित समाज की ओर से ब्रह्मचारी बहिनों के प्रति शुभेच्छा और अभिनंदन के लिये विद्वान वडील भाई श्री हिम्मतलाल जे० शाह ने एक भावपूर्ण भाषण दिया था; जिसमें ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा लेनेवाली बहिनों ने किस भावना से यह कार्य किया, वह बताया था, तथा सत्संगति की महत्ता दर्शाई थी। उनका भावभरा प्रसंगोचित प्रवचन सुनकर सभी को प्रसन्नता हुई थी। इसके अलावा बाहर गाँवों से भी अनेक अभिनंदन के संदेश आये थे। पूज्य स्वामीजी का भोजन ब्रह्मचर्याश्रम के स्वाध्यायभवन में ब्रह्मचारिणी बहिनों की ओर से हुआ था। आश्रम का वातावरण बहुत हर्षोल्लासमय था।

ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेनेवाली ये बहिनें दीर्घ समय से पूज्य स्वामीजी का उपदेश सुनती हैं। इसके अलावा अनेक शास्त्रों का स्वाध्याय करती हैं। दर्शन-पूजनादि कार्य नियमित रूप से करती हैं; रात्रि भोजन त्याग आदि योग्य आचार-विचार का पालन करती हैं। सत्समागम में रहकर आत्महित की भावना से ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताने के निर्णय सभी में अपने दृढ़ विचारों के बल से किया है। हम इन सभी साधर्मी बहिनों के प्रति हार्दिक वात्सल्यपूर्ण अभिनंदन पूर्वक, सत्समागम से, आत्मसाधना से, सभी अपने जीवनध्येय को शीघ्र ही प्राप्त करें... यही... शुभेच्छा।

संतों की यह शीतल छाया

पूज्य बेनश्री बेन की चरण छाया में नौ ब्रह्मचारिणी बहिनें

हंसाबेन, मैनाबेन, सुशीलबेन, सुरेखाबेन, इंदिराबेन,
विमलाबेन, निर्मलाबेन, विमलाबेन, रमाबेन,

तुम आत्महित के हेतु जीवन समर्पण करना.... देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति और बहुमान की वृद्धि करना। आपस में एक-दूसरे की बहिनें हो, इस रीति से वर्तना और वैराग्य से रहना... इसमें शासन की शोभा है। आत्मा का कल्याण कैसे हो... और उसके लिये पूज्य गुरुदेव क्या कहते हैं, उस पर विचार करना। स्वाध्याय व मनन में वृद्धि करना। ब्रह्मचर्य जीवन में प्रवेश करने पर आत्म विचार हेतु निवृत्ति मिलती है, ऐसा गुरुदेव बारंबार कहते हैं, अतः निवृत्ति लेकर स्वाध्याय-मनन करना। इस तरह तुम्हारे जीवन में तुम्हारी आत्मा के कल्याण करने का लक्ष्य रखना....

(पूज्य माताजी की सीख)

ब्रह्मचारी बहिनों के लिये माननीय प्रमुखश्री की ओर से

शुभेच्छा-संदेश

भादों बदी १ के दिन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेनेवाली नौ कुमारिका बहिनों के प्रति शुभेच्छा का संदेश भेजते हुए श्रीमान् प्रमुख श्री नवनीतलाल सी० जवेरी लिखते हैं कि—

भादों बदी प्रतिपदा, यह तुम्हारे जीवन की धन्य घड़ी है कि जब परम पूज्य स्वामीजी के उपदेश का सार्थक्य तुम अपने जीवन में उतारने के लिये भाग्यशाली हुई हो। परम हितकारी जैनधर्म इतना महान है कि जो कोई भी जीव अपने जीवन में उसे उतारता है, उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है। पंडित श्री दौलतरामजी ने कहा है—

यह मानुष पर्याय सुकुल मुनिवो जिनवानी,
यह विध गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी।
धन समाज गज बाज राज तो काज न आवै,
ज्ञान आपको रूप भये फिर अचल रहावे;
तास ज्ञान को कारण स्व-पर विवेक बखानौ,
कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनौ॥

तुमने भी इसी उत्तम भावना से ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा अंगीकार की है; तुम आगे बढ़कर ऐसा ज्ञान प्राप्त कर अपने जीवन को धन्य बनाओ—ऐसी शुभेच्छा के साथ अभिनंदन भेज रहा हूँ।

—नवनीतलाल जवेरी

यह जीवन तुमसा जीवन हो

पूज्य बेन श्री-बेन की मंगल छाया में रहनेवाली मुमुक्षु अंतर की उर्मि से कहती हैं कि—हे धर्ममाता! आप ही हमारी सच्ची माता हो, माता से भी अधिक स्नेह से दिन-रात आप हमारे हितों की सँभाल रख रही हैं। ज्ञान-वैराग्य का सन्मार्ग बताकर ऐसे जीवन के संस्कारों का सिंचन कर आप हमारे ऊपर महान उपकार कर रही हैं... हे माता! आपका जीवन एक आदर्श जीवन है; इससे हम ऐसी भावना करती हैं कि यह जीवन तुमसा जीवन हो।

श्री सोनगढ़ आगम मंदिर के उद्घाटन समारंभ की

आमंत्रण-पत्रिका

सद्धर्मवत्सल बन्धु!

सहर्ष निवेदन है कि—आत्मानुभवी, जिनशासनप्रभावक, अध्यात्ममूर्ति, परम पूज्य सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के भवतापहारी, परम पावन उपदेशामृत से प्रभावित होकर, लौकिक वकीलात छोड़कर वीतराग कथित मार्ग के सच्चे एवं निडर वकील की तरह जिनने ख्याति प्राप्त की है, पूज्य गुरुदेव श्री ने श्रुतज्ञानगंगा का जो आत्मकल्याणकारी प्रवाह बहाया है, उसे अंतर में झेलने के लिये जो सतत प्रयत्नशील हैं, जो श्री जैनेन्द्रमार्ग के प्रति अडिग श्रद्धावान व रुचिवान हैं, जिनकी सन्निष्ठ ज्ञानोपासना प्रशंसनीय के साथ अनुकरणीय भी है, जिन्होंने अथक कार्यपरायणता, दूरदर्शिता द्वारा श्री स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ की नि:स्वार्थ भाव से अनेक वर्षों तक अमूल्य सेवा की है, जिन्होंने अनेक शहरों के मुमुक्षु मंडलों को योग्य सलाह सूचना द्वारा यथार्थ मार्गदर्शन दिया है, उन माननीय भाई श्री रामजीभाई माणिकचंद दोशी के सन्मान निमित्त यहाँ तैयार हुए 'आगम-मंदिर' की उद्घाटन विधि गुणीजनानुरागी उदारचित्त श्रीमान् सेठ सा० श्री साहू शांतिप्रसादजी के शुभहस्त से परम पूज्य-गुरुदेवश्री के पावन सान्निध्य में भादवा सुदी ४ तारीख ८-९-६७ शुक्रवार के प्रात: होगी।

उपरोक्त समारंभ में श्रीमान् सेठ सा० राजकुमारसिंहजी (इंदौर) अतिथि विशेष तरीके पधारकर प्रसंग की शोभा में अभिवृद्धि करेंगे।

अत: इस प्रसंग पर आप सहकुटुंब, साधर्मी मित्रमंडल सहित अवश्य पधारें।

यहाँ विराजमान वीतरागी जिनबिम्बों के दर्शन पूजन तथा जिनधर्म प्रभाकर, आत्मजीवन शिल्पी पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के चैतन्य हार्दस्पर्शी आत्महितकारी प्रवचनों का अमूल्य लाभ भी आपको प्राप्त होगा।

इस निमित्त आप सब यहाँ पधारें एवं हमारा वात्सल्ययुक्त जो हार्दिक आमंत्रण है, उसे स्वीकार करने की कृपा करें।

निवेदक—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

एवं श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की ओर से

(प्रमुख) नवनीतलाल चुन्नीलाल झवेरी का जयजिनेन्द्र

सोनगढ़ सुवर्णपुरी समाचार

तारीख ५-७-६७ परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी सुख शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे श्री राजमलजी पांडे कृत समयसार कलश टीका तथा दोपहर को श्री समयसारजी शास्त्र पर प्रवचन चालू है।

जैन दर्शन शिक्षण शिविर में ३२५ उपरांत साधर्मी बंधु बाहर गाँव से आये थे। सबने उत्तम प्रकार से धर्मश्रवण धर्म शिक्षा, तत्त्वचर्चा का लाभ लिया। उत्सव में श्रावण सुदी १५ के दिन विष्णुकुमार आदि मुनियों की पूजा रक्षा पर्व वात्सल्य पर्व मनाया गया। भाद्र बदी १ के शुभ दिन नौ कुमारिका बहिनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा अंगीकार की। उस दिन भी बड़ा उत्सव मनाया गया था।

सुशिक्षित नवयुवक की ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा

भाद्र बदी १४, तारीख ३-७-६७ के दिन श्री रमेशचंदजी जैन मलकापुर निवासी उम्र वर्ष २६ जो पाँच साल से सोनगढ़ में अच्छी तरह तत्त्वज्ञान का अभ्यास करते हैं और दो साल से टेप रेकोर्डिंग द्वारा पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों को आमंत्रणानुसार सुनाने जाते हैं। अच्छी योग्यतावान हैं। आपने पूज्य स्वामीजी के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा अंगीकार की। आपकी बहिन भी सुशिक्षित और पवित्र योग्यता संपन्न है। जिसने नौ बहिनों के संग में आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अपने माता-पिता की सन्मति सहित अंगीकार की है।

रेकोर्डिंग-टेप रील मशीन द्वारा प्रवचन प्रचार

सोनगढ़ श्री ब्रह्मचारी रमेशचंदजी को श्री नवनीतलाल सी० जवेरी प्रमुख श्री सोनगढ़ दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट की ओर से बाहर गाँव से आये हुए आमंत्रण अनुसार भेजे जाते हैं। आप तारीख ६-७-६७ से रवाना होकर शिरपुर (अंतरीक्ष पार्श्वनाथ-) आकोला, आदि होकर मंदसोर, बडनगर, बीना, एत्मादपुर, अलवर, अजमेर, दोसा, जयपुर लाइन में जायेंगे।

श्री समयसारजी परम अध्यात्म-शास्त्र

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्र श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद।

यह अद्वितीय जगतचक्षु समान आध्यात्मिक ग्रंथाधिराज है, परिभाषण पद्धति से जो सूत्र रचना हो वह सर्वोत्तम मानी जाती है जैसी मूल सूत्रों की सर्वोत्तम रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की है, ठीक वैसी ही आत्मख्याति नामक टीका सर्वोत्तम है, वीतरागता और स्वतन्त्रता ग्रहण करने की रुचि से पढ़ने से उसका रसास्वाद आता है।

जिसमें ज्ञानी-अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेदविज्ञान, नवतत्त्वों का रहस्य खोलनेवाले सात अधिकार, कर्ताकर्म, सर्वविशुद्धज्ञान, अनेकांत, ४९ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्य-साधक भाव का स्वरूप आदि का सुस्पष्ट वर्णन है, उस पर सातिशय प्रचंड निर्मल तत्त्वज्ञान के धारक अजोड़ महर्षि श्री अमृतचन्द्राचार्य की सर्वोत्तम संस्कृत टीका है। अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीवों को भी जिसमें समझाया गया है। हिन्दी अनुवाद, तीसरी आवृत्ति, इस ग्रंथ में गाथाएँ लाल स्याही से छपी हैं, कुछ गाथाएँ सुनहरी कलर में हैं। बढ़िया कागज पर सुंदर ढंग से छपने पर भी मूल्य लागत से भी बहुत कम रखा है, सभी जिज्ञासु यथार्थतया लाभ लेवें ऐसी भावनावश इस ग्रंथाधिराज का मूल्य मात्र ५) रुपया रखा है। पोस्टेजादि अलग। पृष्ठ संख्या ६४१ बड़े आकार की है। **—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)**

श्रीमत्भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित

श्री नियमसारजी शास्त्र

सर्वज्ञ वीतराग कथित महान आध्यात्मिक भागवत् शास्त्र, ११ वीं शती के अध्यात्म रस के सर्वोत्तम कवि शिरोमणि श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिवर कृत संस्कृत टीका तथा अक्षरशः प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद सहित शास्त्र जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से माँग है, पूर्णरूप से संशोधित, यह ग्रंथ महान, अनुपम, पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५, बड़ी साइज में, रेगजीन कपड़े की सुंदरतम जिल्द मूल्य बहुत कम कर दिया है मात्र ४), पोस्टेजादि अलग। देश-विदेश में, कोलेज-विश्वविद्यालयों में-सर्वत्र सुंदर प्रचार के योग्य अत्यंत सुगम और सब प्रकार से सुंदर ग्रंथ है। जिज्ञासुगण शीघ्र आर्डर भेजें।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री प्रवचनसार शास्त्र

यह शास्त्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पवित्र अध्यात्मसाररूप महान ज्ञाननिधि है। जिसमें सातिशय निर्मल ज्ञान के धारक महामहर्षि श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने सम्यग्ज्ञानदर्शन (ज्ञेय) और चारित्र अधिकार में स्वानुभवगर्भित युक्ति के बल द्वारा सुनिश्चित द्रव्य-गुण-पर्यायों का विज्ञान, सर्वज्ञ स्वभाव की यथार्थता, स्व-पर ज्ञेयों की स्वतंत्रता, विभाव (अशुद्धभाव) की विपरीतता बताकर अंत में ४७ नयों का वर्णन भी संस्कृत टीका द्वारा ऐसे सुंदर ढंग से किया है कि सर्वज्ञ स्वभाव की महिमा सहित विनय से स्वाध्यायकर्ता अपने को धन्य माने बिना नहीं रह सकते।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने समस्त जिनागम के साररूप रहस्य को खोलकर धर्म जिज्ञासुओं के प्रति परमोपकार किया है। उसी टीका का प्रामाणिक अनुवाद, बड़े टाइप में उत्तम छपाई, बढ़िया कागज, रेगजिन कपड़ेवाली बढ़िया जिल्द, प्रत्येक गाथा लाल स्याही में छपी है। सभी जिज्ञासु यथार्थ लाभ लें ऐसी भावनावश मूल्य लागत से भी बहुत कम मात्र ४) रुपया है। पृष्ठ ४७०, पोस्टेज अलग।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

समयसार कलश टीका (दूसरी आवृत्ति)

जैन धर्म के मर्मी श्री राजमलजी पांडे कृत प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से मिलान करके आधुनिक राष्ट्रभाषा में सुंदर ढ़ग से बड़े टाइप में उत्तम प्रकाशन। आत्महित का जिसको प्रयोजन हो उनके लिये गूढ़ तत्त्वज्ञान के मर्म को अत्यंत स्पष्टतया खोल-खोलकर निर्मल स्वात्मानुभूतिमय उपाय को बतलानेवाला यह ग्रंथ अत्यंत रोचक, अनुपम ज्ञाननिधि है। पंडितजी ने विक्रम संवत् १६१५ पूर्वाचार्यों के कथनानुसार आध्यात्मिक पवित्र विद्या के चमत्कारमय यह टीका बनाई है। पृष्ठ संख्या २९० बड़ी साइज रेगजिन कपड़े की उत्तम जिल्द लागत ५) होने पर भी घटाया हुआ मूल्य २.७५ है। पोस्टेज अलग।

पता श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मोक्षमार्ग प्रकाशक (आधुनिक हिन्दी भाषा में)

आचार्यकल्प श्री पंडित प्रवर टोडरमलजी कृत यह उत्तम रचना है। मूल स्वहस्तलिखित प्रति द्वारा अक्षरश: अनुवाद कराके, मिलान कराके, बड़े भारी श्रमपूर्वक और अपूर्व उत्साह द्वारा यह प्रकाशन छप चुका है और पंडितजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी तथा कविवर पंडित बनारसीदासजी कृत परमार्थ वचनिका; निमित्त-उपादान चिट्ठी यह तीन अधिकार भी मूल प्रतियाँ प्राप्त करके प्रकाशन में लगा दी हैं। प्रथम से ही इनके १०५०० संख्या के ग्राहक हो चुके थे। उन सब साधर्मीजनों को आर्डर के माफिक प्रतियाँ भेज दी गई हैं। लागत मूल्य ४.५० हुआ था किंतु इसका उत्तम ज्ञान प्रचार हेतु मात्र २) मूल्य रखा गया है। और भी जिन्हें पुस्तक चाहिये वे शीघ्रता से नये आर्डर भेज देवें क्योंकि प्रतियाँ खतम हो रही हैं।

दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत
पंचास्तिकाय संग्रह यानी पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरश: ठीक रूप में सांगोपांग अनुवाद श्री हिम्मतलाल जे. शाह बी.एस.सी. द्वारा प्रथम बार ही हुआ है, जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा आचार्यवर श्री अमृतचंद्र कृत संस्कृत टीका का अक्षरश: अनुवाद तैयार हुआ है, यह ग्रंथ दूसरी बार बड़े टाइप में सर्व प्रकार सुंदर संशोधित व संस्कृत टीका सहित छपा है, टीका के कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज, सुंदर छपाई, और रेगजीन कपड़े की सुंदर जिल्द सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ३.५० है। पोस्टेजादि अलग पृष्ठ संख्या ३१५, [जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य सुगम और उत्तम साहित्य है।]

पता— श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १ (आवृत्ति पाँचवीं)

जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित जैन सिद्धांत ज्ञान में तत्त्वज्ञानी की प्राप्ति में प्रवेश करने के लिये अति स्पष्टता से द्रव्य-गुण-पर्यायों का ज्ञान कराया है। गुरुवर्य श्री गोपालदासजी बरैया कृत जैन सिद्धांत प्रवेशिका के दूसरे अध्याय का आधार मुख्यता से लिया गया है। धर्म जिज्ञासुओं में बहुत मांग चालू रही है। इसलिये यह पाँचवीं बार सेठी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित हुई है (चौथी आवृत्ति में तीन हजार पुस्तकें छापी थी) पृष्ठ संख्या १३० बढ़िया कागज, मूल्य ७५ पैसा थोक मंगाने पर २५ टका कमीशन।

'वस्तुविज्ञानसार'

लेखक—ब्रह्मचारी हरिलालजी जैन। जिसमें पूज्य कानजीस्वामी के खास प्रवचनों का संग्रह है। जिसकी जिज्ञासुओं द्वारा बहुत माँग थी, छप चुका है। पृष्ठ संख्या १३८ प्रकाशक श्री दुलीचंद जुगराज जैन।

पुस्तक भेंट स्वरूप मिलने का पता—

जुगराजजी जैन ठि० १९५-९७ महावीर क्लोथ मार्केट
जवेरी बाजार, पोस्ट-मुम्बई नं० २

जयपुर (खानियां) तत्त्वचर्चा, भाग १-२

बड़े आकार की दो पुस्तक, पृष्ठ ८५०, मूल्य १६-०, पोस्टेज अलग, प्रकाशक टोडरमल स्मारक ग्रंथमाला, ठि० पं० टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, गाँधीनगर रोड, बापूनगर, जयपुर-४ (राज०)। आचार्य श्री शिवसागर मुनि महाराज के सामने दो पक्ष के विद्वानों द्वारा जो लिखित चर्चायें हुई थी, वही इस ग्रंथ में छपवा दी हैं। मध्यस्थ होकर जिज्ञासुगण स्वतंत्रतया निर्णय करें। यह पुस्तक सोनगढ़ से भी मिल सकती है। इस पुस्तक की ११०० प्रतियाँ छपी थीं, अब थोड़ी ही प्रतियाँ बची हैं, जयपुर जिन ग्राहकों का आर्डर दिया हुआ है, उन्हें वहाँ से मिल जावेगी। वाराणसी प्रेसवालों द्वारा बाइंडिंग में देरी करने की वजह से पुस्तक ग्राहकों को मिलने में देरी हुई है। अत: ग्राहकगणों से क्षमा याचना।

सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचन, जो सर्वज्ञ वीतराग कथित मोक्षमार्ग (सुख का उपाय) समझने के लिये परमोपकारी हैं, उनका अपूर्व यथार्थ लाभ लेने के लिये निम्नोक्त ग्रंथों का —

अवश्य स्वाध्याय करें

श्री समयसार शास्त्र	५-०
अष्टपाहुड़ शास्त्र	प्रेस में
श्री प्रवचनसार शास्त्र	४-०
श्री नियमसार शास्त्र	४-०
श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र	३-५०
समयसार प्रवचन, भाग १-२-३	अप्राप्य
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]	
आत्मप्रसिद्धि	अप्राप्य
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०), पृष्ठ-९००	५-०
स्वयंभू स्तोत्र	०-५०
मुक्ति का मार्ग	०-५०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १,२,३ प्र.	०-६०
योगसार-निमित्त उपादान दोहा, बड़ा टा.	०-१२
श्री अनुभवप्रकाश (दीपचंद्रजी कृत)	०-३५
श्री पंचमेरु पूजा संग्रह आदि	१-०
बृ.दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन पूजा	०-७५
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	छपेगा
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
मोक्षमार्गप्रकाशक (श्री टोडरमलजी कृत) जिसमें पीछे से किसी के द्वारा बढ़ाये कथन शामिल नहीं किये गये हैं, मूल में जो कथन है वही आधुनिक भाषा में	२-०
समयसार कलश टीका (पं. राजमल्लजी पांडे कृत) आधुनिक भाषा में	२-७५
जैन बाल पोथी	०-२५
छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
छहढाला (नई सुबोध टी.ब.) सचित्र	प्रेस में
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	अप्राप्य
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	अप्राप्य
जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	अप्राप्य
अपूर्व अवसर अमर काव्य पर प्रवचन प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा व लघु सामा.	प्रेस में
भेदविज्ञानसार	अप्राप्य
अध्यात्मपाठ संग्रह	४-०
वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
स्तोत्रत्रयी	०-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
'आत्मधर्म मासिक' इस एक वर्ष के लिये	२-०
'' पुरानी फाईलें सजिल्द	३-७५
शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में १८) ग्रन्थ का मात्र	६-०
अभिनंदन ग्रंथ	७-०

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)

प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।